कुण्डलिनी महाशक्ति

एवं

उसकी संसिद्धि

कुंडलिनी महाशक्ति और उसकी संसिद्धि

*

लेखक :
पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

*

प्रकाशक :
युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि, मथुरा
फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९
मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९
फैक्स नं०- २५३०२००

पुनर्मुद्रित सन् २०१५ मूल्य : १९.०० रुपये

विषय-सूची

अध्याय		*पृष्ठ संख्या*
१.	कुंडलिनी महाशक्ति का स्वरूप और आधार	३
२.	कुंडलिनी महाशक्ति की पौराणिक व्याख्या	११
३.	चक्र संस्थान और उसकी सिद्धि-सामर्थ्य	२१
४.	दिव्यशक्तियों का केंद्र—सहस्रार एवं ब्रह्मरंध्र	३९
५.	मानवी सत्ता का दक्षिणी ध्रुव—मूलाधार	५७
६.	कुंडलिनी साधना—स्वरूप और उद्देश्य	७६
७.	गायत्री-साधना और कुंडलिनी जागरण	९०

***

कुंडलिनी महाशक्ति का स्वरूप और आधार

भारतीय योग-साधन का मुख्य उद्देश्य जीवनमुक्त स्थिति को प्राप्त करना है। अभी तक प्राणियों के विकास को देखते हुए सबसे ऊँची श्रेणी मनुष्य की है, क्योंकि उसको विवेक और ज्ञान के रूप में ऐसी शक्तियाँ प्राप्त हुई हैं, जिनसे वह जितना चाहे ऊँचा उठ सकता है और कैसा भी कठिन कार्य हो, उसे अपनी बहिरंग शक्ति से पूरा कर सकता है। संसार के अधिकांश मनुष्य जीवन के बाह्य पक्ष को ही साधने का प्रयत्न करते हैं और प्रत्येक कार्य को संपन्न करने के लिए धनबल, शरीरबल तथा बुद्धिबल का प्रयोग करने के दो मार्ग को ही आवश्यक मानते हैं। इन तीनों बलों के अतिरिक्त संसार में महान कार्यों को करने के लिए जिस आत्मबल की आवश्यकता होती है, उसके विषय में शायद ही कोई कुछ जानता हो, पर वास्तविकता यही है कि संसार में आत्मबल ही सर्वोपरि है और उसके सामने कोई और 'बल' कुछ विशेष महत्त्व नहीं रखता तथा न ही इस बल के आगे टिक ही सकता है। इस बल को अर्जित करने के लिए योग-साधन द्वारा आत्मोत्कर्ष का पथ अपनाना पड़ता है।

जो लोग अपने जीवन ध्येय को प्राप्त करने के लिए अपनी निर्बलताओं अथवा त्रुटियों को समझकर, उनको दूर करने के लिए योग-मार्ग का आश्रय ग्रहण करते हैं, वे धीरे-धीरे अपनी निर्बलता को सबलता में बदल देते हैं और न केवल सांसारिक विषयों में ही अपने मनोरथों को सफल करते, वरन आध्यात्मिक क्षेत्र में भी ऊँचे उठते हैं। वे स्वयं अपना कल्याण साधन करने के साथ-साथ अन्य सैकड़ों व्यक्तियों के लिए उद्धार का मार्ग प्राप्त करने के योग्य बना देते हैं।

योगशास्त्र में साधन के जो सर्वमान्य नियम दिए गए हैं, उनके सिवाय अध्यात्मविद्या के ज्ञाताओं ने, इस मार्ग में शीघ्र प्रगति करके

कुछ बहुत महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ प्राप्त कर लेने की जो विधियाँ अथवा योग-शाखाएँ निकाली हैं, उनमें 'कुंडलिनीयोग' का विशेष स्थान है। इससे शरीर में एक ऐसी शक्ति का आविर्भाव होता है, जिससे मनुष्य की चैतन्यता बहुत अधिक बढ़ जाती है और वह जब चाहे तब स्थूल-संसार के बजाय सूक्ष्मजगत की स्थिति का अनुभव कर सकता है और एक संकीर्ण क्षेत्र में रहने के बजाय विशाल विश्व की गतिविधि को देखने लगता है। 'हठयोग प्रदीपिका' में 'कुंडलिनी शक्ति' के महत्त्व का वर्णन करते हुए कहा है—

सशैलवनधात्रीणां यथाधारोऽहिनायकः।
सर्वेषां योगतंत्राणां तथाधारो हि कुंडली॥
सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुंडली।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यंते ग्रंथयोऽपि च॥
प्राणस्य शून्यपदवी तथा राजपथायते।
तदा चित्तं निरालंबं तदा कालस्य वंचनम्॥

—हठयोग प्र० ३-१, २, ३

"जिस प्रकार संपूर्ण वनों सहित जितनी भूमि है, उसका आधार सर्पों का नायक (शेषनाग) है, उसी प्रकार समस्त योग-साधनाओं का आधार भी कुंडली ही है, जब गुरु की कृपा से सोई हुई कुंडली जागती है, तब संपूर्ण पद्म (षटचक्र) और ग्रंथियाँ खुल जाती हैं। और उसी समय प्राण की शून्य पदवी (सुषुम्ना) राजपथ (सड़क) के समान हो जाती है, चित्त विषयों से रहित हो जाता है और मृत्यु का भय मिट जाता है।"

अन्य शास्त्रों तथा विशेषकर तंत्र ग्रंथों में कुंडलिनी के स्वरूप तथा उसके उत्थान का विवेचन करते हुए कहा है कि "कुंडलिनी शक्ति मूलाधार में शक्ति रूप में स्थित होकर मनुष्य को सब प्रकार की शक्तियाँ, विद्या और अंत में मुक्ति प्राप्त कराने का साधन होती

हैं।'' इस कुंडलिनी को 'परमा-प्रकृति' कहा गया है। देव-दानव, मानव, पशु-पक्षी, कीट-पतंग सभी प्राणियों के शरीर में यह कुंडलिनी शक्ति विराजमान रहती है।

कमल-पुष्प में जिस प्रकार भ्रमर अवस्थित होता है, उसी प्रकार यह भी देह में रहती है। इसी कुंडलिनी में चित् शक्ति (चैतन्यता) निहित रहती है। इतनी महत्त्वपूर्ण होने पर भी लोग उसकी तरफ ध्यान नहीं देते, यह आश्चर्य का विषय है। यह अत्यंत सूक्ष्मशक्ति है। इसकी सूक्ष्मता की कल्पना करके योगशास्त्र में कहा है—

योगिनां हृदयाम्बुजे नृत्यन्ती नृत्यमञ्जसा।
आधारे सर्वभूतानां स्फुरन्ती विद्युताकृतिः॥

''योगियों के हृदय-देश में वह नृत्य करती रहती है। यही सर्वदा प्रस्फुटित होने वाली विद्युत रूप महाशक्ति सब प्राणियों का आधार है।'' इसका आशय यही है कि कुंडलिनी शक्ति के न्यूनाधिक परिणाम में चैतन्य हुए बिना मनुष्य की प्रतिभा का विकास नहीं होता।

कुंडलिनी आत्मशक्ति की प्रकट और प्रखर स्फुरणा है। यह जीव की ईश्वरप्रदत्त मौलिक शक्ति है। प्रसुप्त स्थिति में वह अविज्ञात बनी और मृततुल्य पड़ी रहती है। वैसी स्थिति में उससे कोई लाभ उठाना संभव नहीं हो पाता। यदि उसकी स्थिति को समझा जा सके तो प्रतीत होगा कि अपने ही भीतर वह भंडार भरा पड़ा है जिसकी तलाश में जहाँ-तहाँ भटकना पड़ता है। वह ब्राह्मी शक्ति अपने ही अंतराल में छिपी पड़ी है, जिसे कामधेनु कहा गया है। आत्मसत्ता में सन्निहित इस महाशक्ति का परिचय कराते हुए साधना शास्त्रों ने यह बताने का प्रयत्न किया है कि अपने ही भीतर विद्यमान इस महती क्षमता का ज्ञान प्राप्त किया जाए और उससे संपर्क साधने का प्रयत्न किया जाए। कुंडलिनी परिचय के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

मल-मूत्र छिद्रों के मध्य मूलाधार चक्र में कुंडलिनी का निवास माना गया है। उसे प्रचंड शक्ति स्वरूप समझा जाए। यह विद्युतीय प्रकृति की है। ध्यान से वह कौंधती बिजली के समान प्रकाशवान दृष्टिगोचर होती है। उसका स्वरूप प्रसुप्त सर्पिणी के समान कुंडलाकार है।

यह उसका स्थानीय परिचय हुआ। अब उसका आधार, कारण, स्वरूप एवं प्रभाव समझने की आवश्यकता पड़ेगी। बताया गया है कि यह ब्राह्मी शक्ति है। स्वर्ग से गंगा अवतरित होकर पृथ्वी पर आई थी और इस लोक को धन्य बनाया था। इसी प्रकार यह ब्राह्मी शक्ति सत्पात्र साधकों की आत्मसत्ता पर अवतरित होती है और उसे हर दृष्टि से सुसंपन्न बनाती है। कहा गया है कि—

ज्ञेयाशक्तिरियं विष्णोर्निर्मला स्वर्णभास्वरा।
सत्वं रजस्तमश्चेति गुणत्रयप्रसूतिका ॥
मूलाधारस्थ वहन्यात्मतेजो मध्ये व्यवस्थिता।
जीवशक्तिः कुंडलाख्या प्राणाकारेण तेजसी॥
महाकुंडलिनीप्रोक्ता परब्रह्मस्वरूपिणी ।
बहुभाग्यवशाद्यस्य कुंडलीजागृता भवेत्॥

—घेरंड संहिता ६ ।१६ । १८

मूलाधारचक्र में सर्पिणी आकार की कुंडलिनी शक्ति है, जो दीपक की लौ जैसी दीप्तिमान है, वहीं जीवात्मा का निवास है।

हे चंड! जिसकी कुंडलिनी शक्ति जाग्रत हो जाए, उसे बड़ा भाग्यशाली मानना चाहिए।

सुप्ता नागोपमा ह्येषा स्फुरन्ती प्रभया स्वया।
अहिवत् संधिसंस्थाना वाग्देवी बीजसंज्ञिका॥
ज्ञेया शक्तिरियं विष्णोर्निर्मला स्वर्णभास्करा।

—शिव संहिता ५/७७-७८

यह कुंडलिनी शक्ति सुप्त सर्पिणी के समान है। वही स्फुरणा, गति, ज्योति एवं वाक् है। यह विष्णु शक्ति है। स्वर्णिम सूर्य के समान दीप्तिवान है।

स्वयंभू शिवलिंग में तीन लपेटे लगाकर सुप्त सर्पिणी की तरह पड़े होने की उपमा में यह संकेत है कि उसमें वे तीनों ही क्षमताएँ विद्यमान हैं, जो मानवी अस्तित्व को विकसित करने के लिए मूलभूत कारण समझी जाती हैं। आकांक्षा, विचारणा, क्रिया एवं साधना-सामग्री के आधार पर हर मनुष्य आगे बढ़ता, सफलता पाता और प्रसन्न होता है। इन तीनों के बीज अंतरंग में कुंडलिनी शक्ति में विद्यमान हैं। इन्हें विकसित करने पर ये तीनों क्षमताएँ भीतर से उमगती हैं, तो बाहर के स्वरूप साधन मिलने पर भी उनको समुन्नत बनने का सहज अवसर मिल जाता है। अंतःक्षमता प्रसुप्त हो तो भी बाहर के विकास-उपचार सफल नहीं होते, किंतु भीतर के स्रोत उमंगों का बाह्य क्षेत्र में उभरना कठिन नहीं है। गायत्री के तीन चरण कुंडलिनी के तीन लपेटे हैं और उन्हें मानव जीवन की मूलभूत क्षमताओं के रूप में माना गया है—

प्रकृतिः निश्चला परावासूपिणी पर प्रमाणात्या कुंडलिनी

—प्रयंत्रसार तंत्र

यह कुंडलिनी महाशक्ति अविचल प्रकृति और परावाणी है। यह परब्रह्म है।

इच्छा शक्तिश्च भू कारः क्रियाशक्ति भुवस्तथा।
स्वः कमः ज्ञानशक्तिश्च भूर्भवः स्व, स्वरूपयम्॥

भूः—इच्छाशक्ति, **भुवः**—क्रियाशक्ति, **स्वः**—ज्ञान शक्ति—ये तीन व्याहृतियों के स्वरूप हैं।

संवित्तिः सैव यात्यङ्ग रसाद्यन्तं यथाक्रमम्।
रसेनापूर्णतामेति तंत्रीभार इवाम्बुना॥

रसपूर्णा यमाकारं भावयत्याशु तत्तथा।
धत्ते चित्रकृतो बुद्धौ रेखा राम यथा कृतिम्॥

—योगवासिष्ठ

यह कुंडलिनी शक्ति रस-भावना से ओत-प्रोत है। उसके जाग्रत होने पर मनुष्य रस-भावनाओं से ऐसे भर जाता है जैसे पानी भरने से चमड़े का चरस। यह रसिकता अनेक कलाओं के रूप में विकसित होते हुए जीवन को रससिक्त बना देती है।

इच्छा-ज्ञान-क्रियात्मासौ तेजोरूपा गुणात्मिका।
क्रमेणानेन सृजति कुंडली वर्णमालिकाम्॥
गुणिता सर्वगात्रेषु कुंडली पर देवता ।
विश्वात्मना प्रबुद्धा सा सूते मंत्रमयं जगत्॥
एकधा गुणिता शक्तिः सर्व विश्वप्रवर्तिनी।

—महायोग विज्ञान

तेजस्वरूप कुंडलिनी जाग्रत होने पर इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति को प्रखर बनाती है। संपूर्ण शरीर पर उसका प्रभाव दीखने लगता है। प्रसुप्त मंत्रमय जगत जाग्रत् हो उठता है। विश्वात्म ज्ञान जाग्रत होता है। विश्व का प्रवर्तन करने वाली कुंडलिनी साधक को अनेक गुण—शक्ति संपन्न बना देती है।

सात्त्विकस्य ज्ञानशक्ति राजसस्य क्रियात्मिका।
द्रव्यशक्तिस्तामसस्य तिस्त्रश्च कथितास्तव॥

—देवी भागवत ३/७/२६

सात्त्विक ज्ञानशक्ति, राजस क्रियाशक्ति और तामस द्रव्यशक्ति ये तीन शक्तियाँ कही गई हैं।

ज्ञानेच्छाक्रियाणां तिसृणां व्यष्टीनां महासरस्वती महाकाली महालक्ष्मीरित।

ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति और क्रियाशक्ति—ये तीनों ही शक्ति की प्रतीक हैं। इन्हें ही महासरस्वती, महाकाली और महालक्ष्मी कहते हैं।

केचित्तां तप इत्याहुस्तमः केचिज्जडं परे। ज्ञानं मायां प्रधानं च प्रकृतिं शक्तिमप्यजाम्। आनंदरूपता चास्याः परप्रेमास्पतत्वतः।

—देवी भागवत ७।३२।९।१८

कोई मुझे तप शक्ति कहते हैं। कोई जड़। कोई ज्ञान कहते हैं, कोई माया, कोई प्रकृति। मैं ही परम प्रेमास्पद तथा आनंदरूपा हूँ।

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्राह्मणं तमृषिं तं सुमेधाम्॥

—ऋग्वेद १०।१२५।५

देवताओं और मनुष्यों की अभीष्ट प्राप्ति का मार्ग मैं ही बतलाती हूँ। जो मेरी (विवेक शक्ति की) उपासना कर मुझे प्रसन्न करता है, उसे ही मैं प्रखर बनाती हूँ। ब्राह्मण, ऋषि तथा मेधावी बनाती हूँ।

अपने में विद्यमान परम वैभव के संबंध में अपरिचित रहना यही अध्यात्म की भाषा में अज्ञान या अंधकार है। इसकी निवृत्ति को ही आत्मज्ञान की आत्मसाक्षात्कार की महान उपलब्धि कहा गया है। प्रसुप्ति को जागृति में बदल देना, खोए को तलाश कर लेना यही परम पुरुषार्थ है। आत्म-साधनाओं को परम पुरुषार्थ कहा गया है। सामान्य पुरुषार्थों से धन, बल थोड़ी-सी भौतिक उपलब्धियाँ स्वल्प मात्रा में उपार्जित की जा सकती हैं। वे भी अस्थिर होती हैं और मिलने के बाद उलटी अतृप्ति भड़काती चलती हैं। किंतु आत्मिक विभूतियों को उपार्जित करने की दिशा में बढ़ने पर प्रत्येक चरण क्रमशः अधिक उच्चस्तरीय अनुदान प्रस्तुत करता चलता है। वे स्थायी भी होते हैं और तृप्तिकारक भी। उनसे अपना भी कल्याण होता है और दूसरों का भी। इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखते हुए साधना को परमपुरुषार्थ कहा गया है।

सोता हुआ मनुष्य मृततुल्य निष्क्रिय पड़ा रहता है। जाग्रति होते ही उसकी समस्त क्षमताएँ जाग पड़ती हैं। प्राणशक्ति -कुंडलिनी

शक्ति के संबंध में भी यही बात है। जिसकी अंत:शक्ति मूर्च्छित है, समझना चाहिए कि वह तत्त्वत: सोया हुआ ही है। जिसका अंतराल जग पड़ा, उसकी महान सक्रियता को क्रियान्वित होते हुए देखा जा सकता है। सोने और जागृति की स्थिति में जितना अंतर होता है उतना ही आत्मशक्ति के प्रसुप्त और जाग्रत होने की स्थिति में समझा जा सकता है।

कुंडलिनी की प्रसुप्ति को जागृति में बदलने के लिए 'गायत्री-साधना' का उपाय अपनाना पड़ता है। इस जागरण प्रयास में लगने के लिए जो साहस करते हैं, वे भौतिक और आत्मिक दोनों ही क्षेत्रों में समुन्नत स्थिति प्राप्त करते चले जाते हैं।

□

कुंडलिनी महाशक्ति की पौराणिक व्याख्या

आत्मविद्या के विद्यार्थियों को यह तो विदित ही रहता है कि यह मानवीय पिंड (शरीर) विश्व-ब्रह्मांड का एक छोटा-सा नमूना मात्र है। सूर्य चलता है और सौरमंडल के ग्रह-उपग्रह उसकी परिक्रमा करते हैं। ठीक इसी प्रकार परमाणु भी अकेला नहीं होता, उसके साथ इलेक्ट्रान, प्रोटॉन, न्यूट्रॉन आदि की एक मंडली रहती है जो 'न्यूक्लियस' से प्रभावित होकर अपना कार्य उसी तरह चलाती है जिस तरह सौरमंडल के साथ सूर्य। विशाल वृक्ष का सारा ढाँचा छोटे-से बीज के भीतर पूरी तरह विद्यमान रहता है। मनुष्य का शरीर ही नहीं उसका स्वभाव, बुद्धि, अंत:करण आदि महत्त्वपूर्ण सूक्ष्म चेतना संस्थान भी अति सूक्ष्म रज-वीर्य में पूरी तरह 'जीन्स' रूप से विद्यमान रहता है। ब्रह्मांड की विशाल व्यापकता को यदि हम बीज रूप में देखना चाहें, तो उसे मानव शरीर की सूक्ष्मता का विश्लेषण करते हुए भली प्रकार जान सकते हैं। जान ही नहीं सकते उस व्यक्तिगत सूक्ष्मता का विश्व गरिमा के साथ जुड़े हुए अविच्छिन्न संबंध का लाभ भी उठा सकते हैं। यह संबंध सूत्र यदि प्रसुप्त न रहकर जाग्रत हो जाए, दुर्बल न रहकर परिपक्व हो जाए, तो विश्वव्यापी शक्ति-भंडार से अपने लिए आवश्यक वस्तुएँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध-आकर्षित कर सकता है। इतना ही नहीं, अपनी दुर्बल इकाई को समर्थ बनाकर उससे विराट् विश्व के जड़-चेतना संस्थान को प्रभावित कर सकता है।

साधना और तपश्चर्या वस्तुत: इसी अति महत्त्वपूर्ण विज्ञान का नाम है। प्राचीन काल में तप-साधना के द्वारा जिनने जो वरदान पाए थे, उनके इतिहास, पुराण विस्तारपूर्वक हम पढ़ते-सुनते हैं। इन दिनों वैसी उपलब्धियाँ प्रत्यक्ष न होने से वे बातें कपोल-कल्पना

जैसी लगती हैं, पर वस्तुत: बात ऐसी नहीं है। यदि ठीक विधि से, ठीक उपकरणों द्वारा उस विज्ञान को कार्यान्वित किया जाए तो पूर्वकाल की कपोल-कल्पना समझी जाने वाली बातों को आज भी प्रत्यक्ष किया जाना संभव है।

तपस्वियों द्वारा साधना के फलस्वरूप प्राप्त किए वरदान और कुछ नहीं, विराट् विश्व की अंतरंग शक्तियों में से कुछ का इच्छानुकूल उपयोग कर सकने की क्षमता ही समझी जानी चाहिए। इसी प्रकार शाप-वरदान दे सकने की क्षमता को अपनी व्यक्तिगत इकाई को इतना प्रबल बना लेना चाहिए, जिससे मनुष्यों या पदार्थों को अपनी संकल्प शक्ति के प्रहार से अभीष्ट दिशा में मुड़ने के लिए विवश किया जा सके। देवताओं का अस्तित्व इस विराट् विश्व में उनकी विशालता के अनुरूप व्यापक भी हो सकता है? पर हमसे देवताओं के जिस अंश का प्रत्यक्ष और सीधा संबंध है, वह अंश अपने भीतर ही 'शक्तिबीजों' के रूप में विद्यमान रहता है। साधना का प्रयोजन इन्हीं शक्तिबीजों को जाग्रत और समर्थ बनाना है। समष्टिगत देवताओं का आशीर्वाद, वायु, वर्षा, धूप, शीत, दुर्भिक्ष, सुभिक्ष आदि के रूप में समग्र रूप से बरसता है और उससे सबको समान लाभ मिलता है। व्यक्तिगत वरदान आशीर्वाद देने वाले देवता अपने शरीर में ही विद्यमान रहते हैं। विविध-विध साधनाओं द्वारा उन्हीं को स्वयं समर्थ बनाया जाता है और अपनी पात्रता एवं तपस्या के अनुरूप उन्हीं से वह लाभ पाया जाता है, जिसे 'अलौकिक' चमत्कारी, देवप्रदत्त, वरदान के रूप में आश्चर्य के साथ सुना और देखा जाता है।

इस अलौकिक और अद्‌भुत चमत्कार प्रस्तुत करने वाली शक्ति को ही योगियों और तपस्वियों ने कुंडलिनी नाम दिया है और उसे जीवन चेतना का आधार बताया है। उसी से जीवधारियों को शक्ति और तेजस्विता मिलती है, सामान्य स्थिति में व्यक्ति की कुंडलिनी शक्ति

जितनी मात्रा में स्पंदन करती है, उतना ही प्रभाव-क्षेत्र, उस मनुष्य का होता है। उसी के आधार और अनुपात से लोगों को सुख-दुःख, आदर-सम्मान, लोक-प्रतिष्ठा आदि मिलती है। इसलिए कहना न होगा कि मनुष्य के स्थूल जीवन की नहीं, व्यावहारिक जीवन की सफलता और समुन्नति का आधार भी कुंडलिनी शक्ति ही है।

पाँचों प्रकार की ज्ञानेंद्रियाँ भी बिजली के तारों की तरह इसी परमशक्ति से जुड़ गईं हैं, इसलिए वह सूक्ष्म चेतना होने पर भी संकल्प रूप में आ गई है। चेतन होने के कारण चिति, जीने से जीव, मनन करने से मन और बोध प्राप्त करने से चेतना को बुद्धि रूप में देखा जाता है। अहंकार रूप में उसे ही चतुष्टक कहते हैं, पर इन विभिन्न नामों का एक ही आधार है—चेतना। इस चेतना की, शक्तियों की मूलाधार शक्ति को ही कुंडलिनी कहा जाता है। ज्ञान और अनुभव के पाँचों कोश बीज रूप से इसी में पाए जाते हैं, इसलिए कुंडलिनी शक्ति जाग्रत कर लेने वाला इंद्रियों को उसी तरह वश में कर लेता है, जिस तरह लगाम लगे हुए घोड़ों को वश में कर लिया जाता है। जिसने इंद्रियों को जीत लिया, संसार में उसको किसका भय? जो निर्भय हो गया वही विश्व-विजेता हो गया।

कुंडलिनी की इन्हीं महान सामर्थ्यों को जानकर ही योगशास्त्रों में उसे सर्वाधिक महत्त्व दिया गया। इसके साथ अनेक प्रकार की कल्पनाएँ जोड़ दी गई हैं। अनेक प्रकार से उसका वर्णन किया जाता है। सीधे, सरल शब्दों में कुंडलिनी वह दिव्य मानस तेज है, जो आत्मचेतना से परिसिक्त है और शरीर भर में व्याप्त है। साधना के फलस्वरूप यह तेज सिमटकर ध्यान के समय ज्योति बनकर देह में कार्य करने लगता है।

कुंडलिनी शक्ति को और अच्छी तरह समझने के लिए श्वास-क्रिया और सुषुम्ना शीर्षक (मेडुला ऑब्लाँगेटा) का विस्तृत अध्ययन

आवश्यक है। पाश्चात्य वैज्ञानिक अभी तक इतना ही जान पाए हैं कि नाक से ली हुई साँस गले से होती हुई फुफ्फुसों (फेफड़ों) तक पहुँचती है। फेफड़ों के छिद्रों में भरे हुए रक्त को वायु शुद्ध कर देती है और रक्त-परिसंचालन की गतिविधि शरीर में चलती रहती है।

किंतु प्राणायाम द्वारा श्वास-क्रिया को बंद करके भारतीय योगियों ने यह सिद्ध कर दिया है कि चेतना जिस प्राणतत्त्व को धारण किए हुए जीवित है, उसके लिए श्वास-क्रिया आवश्यक नहीं। साँस ली हुई हवा का स्थूल भाग ही रक्तशुद्धि का काम करता है। उसका सूक्ष्म भाग सुषुम्ना शीर्षक में अवस्थित इड़ा और पिंगला नाड़ियों के माध्यम से नाभि-कंद स्थित चेतना को उद्दीप्त किए रहता है। 'गोरक्ष-पद्धति' में श्लोक ४८ से इस क्रिया को शक्तिचालन महामुद्रा, नाड़ी-शोधन आदि नाम दिए हैं और लिखा है कि सामान्य अवस्था में इड़ा और पिंगला नाड़ियों का शरीर की जिस ग्रंथि या इंद्रिय से संबंध होता है, मनुष्य उसी प्रकार के विचारों से प्रभावित होता रहता है। इस अवस्था में नाड़ियों के स्वतः संचालन का अपना कोई क्रम नहीं होता। किंतु जब विशेष रूप (प्राणायाम) से प्राणवायु को धौंका जाता है तो इड़ा (गर्म नाड़ी) और पिंगला (ठंढी नाड़ी) सम-स्वर में प्रवाहित होने लगती हैं। इस अवस्था के विकास के साथ-साथ नाभि-कंद में प्रकाश स्वरूप गोला भी विकसित होने लगता है। उससे प्राण शक्ति विद्युतशक्ति के समान निःसृत होती है, चूँकि सभी नाड़ियाँ इसी भाग से निकलती हैं इसलिए वह इस ज्योति गोले के संस्पर्श में होती हैं। सभी नाड़ियों में वह विश्वव्यापी शक्ति झरने से सारे शरीर में वह तेज 'ओजस्' के रूप में प्रकट होने लगता है। इंद्रियों में वही बल के रूप में, नेत्रों में चमक के रूप में परिलक्षित होता है। इस प्राण शक्ति के कारण प्रबल आकर्षण शक्ति पैदा होती है।

यह शक्ति नाभि प्रदेश में प्रस्फुटित होती है और चूँकि कटि प्रदेश भी उसी के समीप है, इसलिए वह भाग अधिक शीघ्र और तेजी से प्रभावित होता है। इसलिए यौन शक्तिकेंद्रों को नियंत्रण में रखना अधिक आवश्यक होता है। साधना की अवधि में संयम पर इसीलिए अधिक जोर दिया जाता है, जिससे कुंडलिनी शक्ति का फैलाव ऊर्ध्वगामी हो जाए, उसी से ओज की वृद्धि होती है।

स्थूल रूप से शरीर के स्नायुमंडल को ही पाश्चात्य वैज्ञानिक देख पाए हैं, वे अभी तक नाड़ियों के भीतर बहने और गतिविधियों को मूल रूप से प्रभावित करने वाले प्राण-प्रवाह को नहीं जान सके। स्थूल नेत्रों से उसे देखा जाना संभव भी नहीं है। उसे भारतीय योगियों ने चेतना के अति सूक्ष्म स्तर का वेधन करके देखा। योग शिखोपनिषद में १०१ नाड़ियों का वर्णन करते हुए शास्त्रकार ने सुषुम्ना शीर्षक को पर-नाड़ी बताया है। यह कोई नाड़ी नहीं है, वरन इड़ा और पिंगला के समान विद्युत-प्रवाह से उत्पन्न हुई एक तीसरी धारा है जिसका स्थूल रूप से अस्तित्व नहीं भी है और सूक्ष्म रूप से इतना व्यापक एवं विशाल है कि जीव की चेतना जब उसमें से होकर भ्रमण करती है तो ऐसा लगता है कि वह किसी आकाश गंगा में प्रवाहित हो रहा हो। वहाँ से विशाल ब्रह्मांड की झाँकी होती है। अंतरिक्ष में अवस्थित अगणित सूर्य, चंद्रमा, ग्रह-नक्षत्र की स्थिति समझने और विश्वव्यापी हलचलों को नाद रूप में सुनने-समझने का अलभ्य अवसर, जो किसी चंद्रयान या राकेट के द्वारा भी संभव नहीं है, इसी शरीर में मिलता है। उस स्थिति का वर्णन किया जाए तो प्रतीत होगा कि कुछ स्थूल और सूक्ष्म इस संसार में विद्यमान है, उस सबके साथ संबंध मिला लेने और उनका लाभ उपलब्ध करने की क्षमता उस महान आत्मतेज में विद्यमान है, जो कुंडलिनी के भीतर बीज रूप में मौजूद है।

सुषुम्ना नाड़ी (स्पाइनल कार्ड) मेरुदंड में प्रवाहित होती है और ऊपर मस्तिष्क के चौथे खोखले भाग (फोर्थवेंट्रिकल) में जाकर सहस्त्रारचक्र में उसी तरह प्रविष्ट हो जाती है, जिस तरह कि तालाब के पानी में से निकलती हुई कमल नाल से शत-दल कमल विकसित हो उठता है। सहस्त्रारचक्र ब्रह्मांड लोक का प्रतिनिधि है, वहाँ ब्रह्म की संपूर्ण विभूति बीज रूप से विद्यमान है और कुंडलिनी की ज्वाला वहीं जाकर अंतिम रूप से जा ठहरती है, उस स्थिति में निरंतर मधुपान का-सा, संभोग की तरह का सुख (जिसका कभी अंत नहीं होता) अनुभव होता है, उसी कारण कुंडलिनी शक्ति से ब्रह्मप्राप्ति होना बताया जाता है।

कुंडलिनी का महत्त्व इसी शरीर में परिपूर्ण शक्ति और सामर्थ्य का स्वामी बनकर आत्मा की अनुभूति और ईश्वर दर्शन प्राप्त करने से निस्संदेह बहुत अधिक बढ़ जाता है। पृथ्वी का आधार जिस प्रकाश शेष भगवान को मानते हैं, उसी प्रकार कुंडलिनी का शक्ति पर ही प्राणिमात्र का जीवन अस्तित्व टिका हुआ है। सर्प के आकार की वह महाशक्ति ऊपर जिस प्रकार मस्तिष्क में अवस्थित शून्य-चक्र से मिलती है, उसी प्रकार नीचे वह यौन स्थान में विद्यमान कुंडलिनी के ऊपर टिकी रहती है। प्राण और अपान वायु के धौंकने से वह धीरे-धीरे मोटी, सीधी, सशक्त और परिपुष्ट होने लगती है। साधना की प्रारंभिक अवस्था में यह क्रिया धीरे-धीरे होती है, किंतु साक्षात्कार या सिद्धि की अवस्था में वह सीधी ही जाती है और सुषुम्ना का द्वार खुल जाने से शक्ति का स्फुरण वेग से फूटकर सारे शरीर में, विशेष रूप से मुखाकृति में फूट पड़ता है। कुंडलिनी जागरण दिव्य ज्ञान, दिव्य अनुभूति और अलौकिक मुख का सरोवर इसी शरीर में मिल जाता है।

सुषुम्ना नाड़ी का रुका हुआ छिद्र जब खुल जाता है, तो साधक को एक प्रकार का अत्यंत मधुर नाद सुनाई देने लगता है। यह ध्वनि प्रारंभ में मेघ के गर्जन, वर्षा समुद्र की हहराहट, घंटा, झाँझ, वीणा और भ्रमर-गुंजार के तुल्य विकसित होती है, यही बाद में अनहद नाद में परिणत हो जाता है। नाभि से ४ अंगुल ऊपर यह आवाज सुनाई देती है, उसे सुनकर चित्त उसी प्रकार मोहित होता है जिस प्रकार वेणुनाद सुनकर सर्प सब कुछ भूल जाता है। अनहद नाद से साधक के मन पर चढ़े हुए जन्म-जन्मांतरों के कुसंस्कार छूट जाते हैं।

कुंडलिनी महाशक्ति को तंत्र शास्त्रों में द्विमुखी सर्पिणी कहा गया है। उसका एक मुख मल-मूत्र इंद्रियों के मध्य मूलाधारचक्र में है। दूसरा मुख मस्तिष्क के मध्य ब्रह्मरंध्र में। पृथ्वी के उत्तरी-दक्षिणी ध्रुवों में सन्निहित महान शक्तियों का परस्पर आदान-प्रदान निरंतर होता रहता है, इसी से इस पृथ्वी का सारा क्रिया-कलाप यथाक्रम चल रहा है। इसी प्रकार कुंडलिनी शक्ति के ऊपर और नीचे के जननेंद्रिय और मस्तिष्क के अधःऊर्ध्व केंद्रों की शक्तियों का निरंतर आदान-प्रदान होता रहता है। यह संचार क्रिया मेरुदंड के माध्यम से होती है। रीढ़ की हड्डी इन दोनों केंद्रों को परस्पर मिलाने का काम करती है। वस्तुतः स्थूल कुंडलिनी का महासर्पिणी स्वरूप मूलाधार से लेकर मेरुदंड समेत ब्रह्मरंध्र तक फैले हुए सर्पाकृत कलेवर में ही पूरी तरह देखी जा सकती है। ऊपर-नीचे मुड़े हुए दो महान शक्तिशाली केंद्र चक्र ही उसके आगे-पीछे वाले दो मुख हैं।

मेरुदंड पोला है, उसके भीतर जो कुछ है, उसकी चर्चा शरीरशास्त्र के स्थूल प्रत्यक्ष दर्शन के आधार पर दूसरे ढंग से की जा सकती है। शल्य क्रिया में जो देखा जा सकता है, वह रचनाक्रम दूसरा है। हमें

सूक्ष्म प्रक्रिया के अंतर्गत योगशास्त्र की दृष्टि से इस परिधि में सन्निहित दिव्य शक्तियों की चर्चा करनी है। योगशास्त्र के अनुसार मेरुदंड में एक ब्रह्म नाड़ी है और उसके अंतर्गत इड़ा और पिंगला दो शिराएँ गतिशील हैं। ये नाड़ियाँ रक्तवाहिनी शिराएँ नहीं समझी जानी चाहिए। वस्तुत: ये विद्युत धाराएँ हैं। जैसे बिजली के तार में ऊपर एक रबड़ का खोल चढ़ा होता है और उसके भीतर जस्ते तथा ताँबे का ठंढा-गरम तार रहता है, उसी प्रकार इन नाड़ियों को समझा जाना चाहिए। ब्रह्म नाड़ी रबड़ का खोल हुआ, उसके भीतर इड़ा और पिंगला ठंढे-गरम तारों की तरह हैं। इनका स्थूल कलेवर या अस्तित्व नहीं है। शल्य-क्रिया द्वारा ये नाड़ियाँ नहीं देखी जा सकतीं। इस रचनाक्रम को सूक्ष्म विद्युत धाराओं की दिव्य रचना ही कहना चाहिए।

मस्तिष्क के भीतरी भाग में यों कतिपय 'कोष्ठकों' के अंतर्गत भरा हुआ मज्जा भाग ही देखने को मिलेगा। खुर्दबीन से और कुछ देखा नहीं जा सकता, पर सभी जानते हैं, उस दिव्य संस्थान के नगण्य से दीखने वाले घटकों के अंतर्गत विलक्षण शक्तियाँ भरी पड़ी हैं। मनुष्य का सारा व्यक्तित्व, सारा चिंतन, सारा क्रिया-कलाप और सारा शारीरिक, मानसिक अस्तित्व इन घटकों के ऊपर ही अवलंबित रहता है। देखने में सभी का मस्तिष्क लगभग एक जैसा दीखेगा, पर उसकी सूक्ष्म स्थिति में पृथ्वी-आकाश जैसा अंतर दीखता है, उसके आधार पर व्यक्तित्वों का घटिया-बढ़िया होना सहज ही आँका जा सकता है। यही सूक्ष्मता कुंडलिनी के संबंध में व्यक्त की जा सकती है। मूलाधार, सहस्रार, ब्रह्म नाड़ी, इड़ा, पिंगला को शल्य-क्रिया द्वारा नहीं देखा जा सकता। यह सारी दिव्य रचना ऐसी सूक्ष्म है, जो देखी तो नहीं जा सकती, पर उसका अस्तित्व प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है।

मूलाधार में अवस्थित कुंडली महाशक्ति मलद्वार और जननेंद्रिय के बीच लगभग चार अंगुल खाली जगह में विद्यमान बताई जाती है। योगशास्त्र के अनुसार इस स्थान पर वहीं गह्वर में एक त्रिकोण परमाणु पाया जाता है। यों सारे शरीर में स्थित कण गोल बताए जाते हैं। यही एक तिकोना कण है। यहाँ एक प्रकार का शक्ति-भँवर है। शरीर में प्रवाहित होने वाली तथा मशीनों से संचारित बिजली की गति का क्रम यह है कि वह आगे बढ़ती है फिर तनिक पीछे हटती है और उसी क्रम से आगे बढ़ती और पीछे हटती हुई अपनी अभीष्ट दिशा में दौड़ती चली जाती है। किंतु मूलाधार स्थित त्रिकोण कण के शक्ति-भँवर में सन्निहित बिजली गोल घेरे में पेड़ से लिपटी हुई बेल की तरह घुमती हुई संचारित होती है। यह संयम क्रम प्रायः ३॥ लपेटों का है। आगे चलकर यह विद्युत धारा इस विलक्षण गति को छोड़कर सामान्य रीति से प्रवाहित होने लगती है।

यह प्रवाह निरंतर मेरुदंड में होकर मस्तिष्क के उस मध्यबिंदु तक दौड़ता रहता है, जिसे ब्रह्मरंध्र या सहस्रार कमल कहते हैं। इस शक्तिकेंद्र का मध्य अणु भी शरीर के अन्य अणुओं से भिन्न रचना का है। वह गोल न होकर चपटा है। उसके किनारे चिकने न होकर खुरदरे हैं—आरी के दाँतों से उस खुरदरेपन की तुलना की जा सकती है। योगियों का कहना है कि उन दाँतों की संख्या एक हजार है। अलंकारिक दृष्टि से इसे एक ऐसे कमल-पुष्प की तरह चित्रित किया जाता है, जिसमें हजार पंखुड़ियाँ खिली हुई हों। इस अलंकार के आधार पर ही इस अणु का नामकरण 'सहस्रार कमल' किया गया है।

सहस्रार कमल का पौराणिक वर्णन बहुत ही मनोरम एवं सारगर्भित है। कहा गया है कि क्षीरसागर में विष्णु भगवान सहस्र फन वाले शेषनाग पर शयन कर रहे हैं। उनके हाथ में शंख, चक्र, गदा, पद्म

है। लक्ष्मी उनके पैर दबाती हैं। कुछ पार्षद उनके पास खड़े हैं। क्षीरसागर मस्तिष्क में भरा हुआ, भूरा-चिकना पदार्थ ग्रेमैटर है। हजार फन वाला सर्प यह चपटा खुरदुरा ब्रह्मरंध्र स्थित विशेष परमाणु है। मनुष्य शरीर में अवस्थित ब्रह्मसत्ता का केंद्र यही है। इसी से यहाँ विष्णु भगवान का निवास बताया गया है। यहाँ विष्णु सोते रहते हैं। अर्थात सर्वसाधारण में होता तो ईश्वर का अंश समान रूप से है, पर वह जाग्रत स्थिति में नहीं देखा जाता। आमतौर से लोग घृणित, हेय, पशु-प्रवृत्तियों जैसा निम्न स्तर का जीवनयापन करते हैं। उसे देखते हुए लगता है कि इनके भीतर या तो ईश्वर है ही नहीं अथवा यदि है, तो वह प्रसुप्त स्थिति में पड़ा है। जिसका ईश्वर जाग्रत होगा उसकी विचारणा, क्रियाशीलता, आकांक्षा एवं स्थिति उत्कृष्ट स्तर की दिखाई देगी। वह प्रबुद्ध और प्रकाशवान जीवन जी रहा है, अपने प्रकाश से स्वयं ही प्रकाशवान न हो रहा होगा, वरन दूसरों को भी मार्गदर्शन कर सकने में समर्थ हो रहा होगा। मानव तत्त्व की विभूतियाँ जिसमें परिलक्षित न हो रही हैं, जो शोक-संताप, दैन्य-दारिद्र और चिंता-निराशा का नारकीय जीवन जी रहा हो, उसके बारे में यह कैसे कहा जाए कि उसमें भगवान विराजमान हैं ? फिर यह भी तो नहीं कहा जा सकता कि उसमें ईश्वर नहीं है। हर जीव ईश्वर का अंश है और उसके भीतर ब्रह्मसत्ता का अस्तित्व विद्यमान भी है।

इस विसंगति की संगति मिलाने के लिए यही कहा जा सकता है कि उसमें भगवान है तो, पर सोया पड़ा है। क्षीर जैसी उज्ज्वल विचारणाओं के सागर में भगवान निवास करते हैं। क्षीरसागर ही उनका लोक है। जिस मस्तिष्क में क्षीर जैसी धवल, स्वच्छ, उज्ज्वल प्रवृत्तियाँ, मनोवृत्तियाँ भरी पड़ी हों, समझना चाहिए कि उसका अंतरंग क्षीरसागर है और उसे भगवान का लोक ही माना जाएगा

□

चक्र संस्थान और उसकी सिद्धि-सामर्थ्य

आत्मविद्या के अन्वेषकों ने सूक्ष्मजगत में भरे चेतन तत्त्वों की शोध बड़ी तत्परतापूर्वक प्राचीनकाल में की थी। इस काया में ही उन्होंने जड़ जगत का सारा प्रतिबिंब पाया। जो स्थूल संसार में है, वह सूक्ष्म रूप से मनुष्य की काया में भी विद्यमान है। इसलिए महँगे उपकरणों और साधनों द्वारा की जा सकने वाली प्रकृतिगत शोधों की अपेक्षा उनने यह अधिक उचित समझा कि काया को पृथ्वी की प्रतिक्रिया मानकर उसे खोजें और जो अन्वेषण-प्रयोग अभीष्ट हों, वे इस देह पर ही कर लें।

इन्हीं अन्वेषण प्रयोग के दौरान योगियों-आत्मविद्या के जानकारों ने जो निष्कर्ष प्राप्त किए उनके अनुसार योगाभ्यास की अनेक प्रक्रियाओं में सबसे महत्त्वपूर्ण है—कुंडलिनी महाशक्ति। इस महाशक्ति का स्वरूप समझने एवं उपयोग जानने पर पाया गया कि कुंडलिनी का आधिपत्य मुख्य रूप से मानवी काया में ही अवस्थित दो केंद्रों पर है। इन केंद्रों की सामर्थ्य पृथ्वी के दो ध्रुवों—उत्तरी ध्रुव और दक्षिणी ध्रुव के समान है। कुंडलिनी साधना को मानवी काया में स्थित इन दो ध्रुवों पर किया जाने वाला आधिपत्य का प्रयोग माना जा सकता है। इस साधना के छोटे-बड़े अनेक स्तर के प्रयोग एवं परिणाम हैं। सर्वसुलभ आरंभिक प्रयोग भी इस साधना के हैं, उन्हें करने से भी सामान्य जीवन में तेजस्विता, प्रखरता एवं क्रियाशीलता भर सकती है। इस महाशक्ति की साधना के कठिन और उच्च स्तर के प्रयोग भी हैं, जो व्यक्ति की अंतरंग सत्ता को इतनी व्यापक बना सकते हैं कि वह ब्रह्मांड की महान सत्ताओं के साथ अपना संबंध जोड़ सके। इस ब्रह्मांड में इतना कुछ भरा पड़ा है कि मनुष्य की कल्पना तक उस सबको जानने-समझने में समर्थ नहीं हो सकती।

परंब्रह्म के अतुल वैभव को छू सकने की क्षमता जिस व्यक्ति को उपलब्ध हो जाए, वह प्रकृति के समृद्ध भंडार से अभीष्ट मात्रा में जो चाहे सो प्राप्त कर सकता है और उस महाकोष में अपना अनुदान देकर विश्वव्यापी ब्रह्मचेतना को प्रभावित भी कर सकता है।

कुंडलिनी का मध्यवर्ती जागरण मनुष्य शरीर में एक अद्‌भुत प्रकार की तड़ित विद्युत उत्पन्न कर देता है। हमें एक ऐसे सिद्ध-पुरुष का परिचय है, जिसका शरीर भौतिक बिजली से हर घड़ी भरा-पूरा रहता है। उसे कोई स्पर्श नहीं कर सकता। छुए तो खुली बिजली छूने जैसा झटका लगे। वे हमेशा आँखें नीचे रखते हैं। आँख मिलाकर किसी की तरफ देखें, तो वह मूर्च्छित हो जाए। एक बार उन्होंने गौर से एक काँच को देखा और वह तत्काल टूटकर चूरा हो गया। यह शरीरगत विद्युत-प्रवाह था। यह धारा जब मनःक्षेत्र में प्रवाहित होती है, तो मनस्विता का बारापार नहीं रहता। नारद के आगे वाल्मीकि और बुद्ध के आगे अंगुलिमाल जैसे दुर्दांत दस्युओं का पानी-पानी हो जाना इसी मनस्विता का चमत्कार था। योग-साधना शरीर, मन और आत्मा के स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण कलेवरों में न जाने कितनी सामर्थ्य उत्पन्न कर सकती है। कहना न होगा कि कुंडलिनी साधना योगाभ्यास की अति महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। इसे आरंभिक स्तर पर करने से भी भौतिक जीवन प्रखर एवं प्रतिभा-संपन्न बनाया जा सकता है। ऊँचे स्तर पर तो उस साधना की परिणति कितनी चमत्कारी हो सकती है, इसका उल्लेख कर सकना भी कठिन है।

शरीर मोटी दृष्टि से एक सजीव एवं चिंतनशील मांस-पिंड है। उसका क्रिया-कलाप पेट एवं प्रजनन पूर्ति की धुरी पर भ्रमण करता दीखता है, मन की लिप्सा, लोभ, मोह और अहंकार का खट्टा-मीठा रसास्वादन करने के लिए मचलती रहती है। महत्त्वाकांक्षाओं

में उछलता हुआ और निराशाओं से सिसकता जीवधारी ज्यों-त्यों करके मौत के दिन पूरे करता है और कठिनाई से भारभूत जिंदगी की लाश ढोता है। पदार्थ मिलते हैं और खिसक जाते हैं, व्यक्ति जुड़ते हैं और बिछुड़ जाते हैं। आशाओं और निराशाओं का, उपलब्धियों और असफलताओं का चक्र ऐसा है, जिसका न आदि है और न अंत। जीवधारी इसी कुम्हार के चाक पर गीली मिट्टी की तरह घूमता है और इसी चक्की के पाटों में पिसकर अपने अस्तित्व को गँवाता, बदलता चला जाता है। उत्पन्न होने, बढ़ने और बदलने की काल गति का ही एक घटक मनुष्य भी है। अन्य पदार्थों की तरह उसकी भी उठक-पटक होती रहती है।

शरीर का रासायनिक विश्लेषण अति तुच्छ और नगण्य है। उसमें प्रयुक्त हुए पदार्थों का बाजारू मूल्य सामान्य पशु-पक्षियों से भी कम है। मनुष्य शरीर के रक्त, मांस, अस्थि, चर्म को बाजार में बेचा जाए, तब एक जीवित मुरगे से भी कम दाम का बैठेगा। फिर भी मनुष्य की अपनी स्थिति है और अपनी गरिमा। यह उसकी चेतना का मूल्य है। यह चित् शक्ति दृश्यमान शरीर में स्फूर्ति, बलिष्ठता एवं सुंदरता के रूप में परिलक्षित होती है। सूक्ष्मशरीर में उसे ज्ञान-गरिमा, बौद्धिक प्रखरता एवं साहसिक मनस्विता के रूप में देखा जा सकता है। अंतिम अति सूक्ष्म-कारणशरीर में इसी चेतना में आस्था, आकांक्षा, स्नेह, सेवा, उदारता, करुणा जैसी दिव्य-विभूतियों का निवास रहता है।

इन तीनों शरीरों में जो चेतनात्मक ऊर्जा-चित्शक्ति काम करती है, उसे अंतरिक्षव्यापी ताप, शब्द, विद्युत, ईथर आदि के प्रचंड शक्ति-कंपनों से भी अधिक क्षमता संपन्न माना जा सकता है। जड़ और चेतन के बीच जितना आनुपातिक अंतर है, उतना ही विज्ञान परिचित भौतिक सामर्थ्यों और योगियों की जानी-मानी आत्मिक

क्षमता में। लेसर, मृत्युकिरण, अणु, ऊर्जा आदि के संबंध में रोमांचकारी चर्चाएँ सुनने को मिलती रहती हैं। आत्मिक शक्ति की सृजनात्मक शक्ति के बारे में उतनी ही गंभीरतापूर्वक समझा जा सके, तो प्रतीत होगा कि उसका मूल्यांकन अनिर्वचनीय है।

शरीर का एक नगण्य-सा घटक शुक्राणु एक नया मनुष्य रच सकता है। अणु की सौरमंडल से तुलना की जाती है। पिंड को—व्यक्ति को ब्रह्मांड का प्रतीक-प्रतिनिधि कहा गया है। यह तथ्य भी है और सत्य भी। ऐसी दशा में मानवी सत्ता की तुलना उस चिनगारी से की जा सकती है, जिसमें दावानल बनकर समस्त संसार को अपनी चपेट में ले सकने की क्षमता बीज रूप से विद्यमान है। अवसर मिले तो वह बीज विशाल वृक्ष की तरह सुविकसित हो सकता है और चिरकाल तक अपने जैसे असंख्य बीज उत्पन्न करता रह सकता है।

ब्राह्मी शक्ति के उभयपक्षीय प्रयोग हैं। उसके परिष्कृत होने पर मनुष्य महात्मा, देवात्मा और परमात्मा के स्तर पर पहुँच सकता है और इन तीनों समुन्नत चेतना वर्गों में जो दिव्य विभूतियाँ पाई जाती हैं, उनसे सुसंपन्न बन सकता है। इसी शक्ति को यदि भौतिक प्रगति की दिशा में लगा दिया जाए, तो व्यक्ति प्रखर प्रतिभावान बन सकता है, उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँच सकता है और असंभव दीखने वाले कार्यों को संभव बनाता हुआ पग-पग पर विजयश्री वरण कर सकता है। ओजस्वी, मनस्वी और तेजस्वी व्यक्तियों की गुण-गरिमा से इतिहास के उज्ज्वल पृष्ठ आलोकित हो रहे हैं। ऐसे महामानवों की यश-गाथाएँ उन्हें मिले साधनों एवं अवसरों के कारण नहीं, वरन उनके अंतरंग में उभरी हुई चित् शक्ति के ऊपर ही आधारित रही है।

चित्-शक्ति को विकसित करने का विज्ञान ही योग एवं तप की संयुक्त प्रक्रिया बनकर विकसित हुआ है। स्थूलशरीर के अंतराल में

जो दो सूक्ष्मशरीर हैं उनकी मूर्च्छना जगाकर चेतना उत्पन्न कर देना—माया-मलिनता से छुड़ाकर दिव्य परिष्कृत बना देना—यही है साधना का उद्देश्य। समझा जाता है कि भक्तजनों अथवा योगी, तपस्वियों को कई तरह की जो ऋद्धि-सिद्धियाँ मिलती हैं, वे किसी देव-दानव के अनुदान, अनुग्रह का प्रतिफल नहीं हैं। पर वास्तविकता यह है कि जो कुछ अद्भुत, असाधारण, अतींद्रिय कहा जाता है, वह भीतर से ही उभरता है। आत्मपरिष्कार का ही दूसरा नाम ईश्वर साक्षात्कार है, यह तथ्य यदि समझा जा सके तो हम सत्य को समझने वाले कहे जा सकेंगे।

आत्मसाधना के अनेक प्रयोग हैं। अनेकानेक परंपराओं में अगणित विधि-विधान बताए गए हैं। भारतीय साधना विज्ञान के अंतर्गत ८४ योग प्रधान हैं। उनकी शाखा-उपशाखाएँ बढ़ते-बढ़ते हजारों तक पहुँचती हैं। फिर संसार के अन्यान्य क्षेत्रों में प्रचलित साधनाओं की गणना करना और उनका लेखा-जोखा रखना तो और भी कठिन है। इन योग-साधनाओं में चक्रवेधन की एक प्रक्रिया ऐसी है, जिसका महत्त्व संसार भर के सभी योगाभ्यासियों ने स्वीकार किया है। षटचक्र वेधन के स्वरूपों और विधि-विधानों में थोड़ा अंतर मतभेद रहते हुए भी उनके अस्तित्व और प्रभाव को सर्वत्र स्वीकारा गया है। कुंडलिनी शक्ति जागरण की चर्चा साधना-क्षेत्र में बहुधा होती रहती है। यह चक्रवेधन में मिलने वाली सफलता की अंतिम परिणति है।

शरीर की नाड़ी-संस्थान में ज्ञान-तंतुओं में दौड़ने वाली विद्युत शक्ति से सभी परिचित हैं। टेलीफोन के तार तभी काम करते हैं जब उनके साथ बिजली का संबंध हो। इंद्रियों के माध्यम से मिलने वाली ज्ञान-संवेदनाएँ—मस्तिष्क में उठने वाली विचार एवं भाव-तरंगें इसी विद्युत शक्ति का चमत्कार हैं। शरीर में विद्युत चुंबकत्व से

भरी आँधी-तूफानों की परतें उठती रहती हैं और उनसे कई प्रकार के 'मूड' बनते-बिगड़ते हैं। जीवन की दिशाधारा इसी की प्रेरणा से विनिर्मित होती है। योगियों ने इस दिव्य चेतना प्रवाह के संबंध में बहुत कुछ जानने का प्रयास इसलिए किया है, जिससे उसका सदुपयोग करके अधिक लाभ उठाना संभव हो सके।

चित् शक्ति की शोध करते हुए पाया गया है कि मस्तिष्क के मध्य बिंदु में अवस्थित सहस्त्रारचक्र पृथ्वी के उत्तरी ध्रुव की तरह है और जननेंद्रिय के मूल में मूलाधारचक्र की स्थिति दक्षिणी ध्रुव जैसी है। ब्रह्मांड चेतना का व्यक्ति सत्ता के साथ संपर्क बनने और आदान-प्रदान होने के माध्यम यही दो शरीरकेंद्र हैं। इनमें सन्निहित शक्ति को ही जीवन-संचार की धुरी कहा जा सकता है। बुद्धि एवं श्रद्धा का केंद्र ऊपर है और प्रफुल्लता एवं बलिष्ठता की धुरी नीचे है। जननेंद्रिय मात्र काम-क्रीड़ा का आनंद लेने व संतान उत्पन्न करने का काम ही नहीं आतीं, उसके मूल में स्फूर्ति, कला, साहसिकता, प्रफुल्लता जैसी अगणित क्षमताएँ भरी पड़ी हैं। इन्हें भौतिक प्रगति का आधार कहा जा सकता है। जिसकी यह शक्ति नष्ट हो जाए उसे क्लीव-नपुंसक कहकर चिढ़ाया जाता है। यहाँ यौनाचार की क्षमता का नहीं, पौरुष का वर्णन है। मूलाधारचक्र को भौतिक शक्तियों का केंद्र कहा गया है।

मस्तिष्क का सहस्त्रार केंद्र—ज्ञान, बुद्धि आदि आत्मिक सामर्थ्यों का उद्गम है। प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि जैसी साधनाएँ मस्तिष्कीय क्षेत्र में ही की जाती हैं। भौतिक शक्तियों के केंद्र मूलाधार और आत्मिक शक्तियों के उद्गम सहस्त्रार के बीच एक कड़ी है, जिसे बोल-चाल की भाषा में मेरुदंड और अध्यात्म की परिभाषा में सुषुम्ना संस्थान कहते हैं। रीढ़ की हड्डी का क्या महत्त्व है? इसे शरीरशास्त्र के विद्यार्थी भली प्रकार जानते हैं। इसके अंतराल में

प्रवाहित होने वाले विद्युत-प्रवाह के साथ उच्चस्तरीय विभूतियाँ जुड़ी हुई हैं। इसे तत्त्वदर्शी आत्मवेत्ता भली प्रकार जानते हैं। इस संस्थान में प्रचंड वेगवान विद्युत धाराएँ बहती हैं। इसके दो स्वरूप हैं—एक ऋण, दूसरा धन—एक नेगेटिव दूसरा पॉजिटिव। ऋण को इड़ा और धन को पिंगला कहते हैं। दोनों जब भी परस्पर मिलती हैं, तो शक्तिधारा का प्रत्यक्ष अनुभव होता है, इस मिलन- प्रक्रिया को सुषुम्ना कहते हैं। इन्हें नाड़ियाँ भी कहा जाता है, पर यह शब्द प्रयोग से किसी को 'नस' का अर्थ नहीं लेना चाहिए। नाड़ी शब्द का एक अर्थ 'नस' भी होता है, पर यहाँ उस प्रकार की कोई बात नहीं है। यहाँ दो विद्युत धाराओं का संकेत है। मेरुदंड को चीरकर उसमें इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना नाम की कोई उस तरह की नसें नहीं देखी जा सकतीं, जैसा कि योगशास्त्र में उनका विस्तारपूर्वक वर्णन हुआ है। संक्षेप में मस्तिष्क और जननेंद्रिय तथा मस्तिष्क रूपी दो अति महान शक्तिकेंद्रों के बीच निरंतर दौड़ने वाले विद्युत-प्रवाह को इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना की संयुक्त प्रक्रिया कह सकते हैं। अलंकार रूप में इसी को गंगा, यमुना और सरस्वती के मिलन से बनने वाली त्रिवेणी की उपमा दी गई है।

तीव्र प्रवाह की नदियों में प्राय: 'भँवर' पड़ते रहते हैं। जब हवा तेज और गरम होती है, तो ग्रीष्म ऋतु में चक्रवात उठते हैं। पानी में भँवर और हवा में चक्रवात की तरह सुषुम्ना संस्थान में प्रवाहित रहने वाली 'चित्-शक्ति' को अति प्रचंड प्रवाह विद्युत धारा माना गया है। उसमें भी भँवर पड़ते हैं। उन्हें शक्तिचक्र कहते हैं। योगशास्त्र में इनकी गणना है।

पौराणिक उपाख्यान में पुरुषार्थ का प्रतीक और शक्ति का पुत्र कार्तिकेय स्कंद को माना गया है। यह यों शक्ति पार्वती के पुत्र हैं, पर शिवपुराण के अनुसार उन्हें छह कृतिकाओं ने पाला। अग्नि ने उन्हें

गर्भ में धारण किया। शिव का रेतस् अग्नि के रूप में ही स्फुरित हुआ और उसे वैश्वानर ने नारी के रूप में ग्रहण करके अपने भीतर ही परिपक्व किया। अगणित व्यवधानों के प्रतीक यातुधानों ने देव जीवन को दुर्लभ बना रखा था, उसका निराकरण इन कार्तिकेय स्कंद द्वारा ही संपन्न हुआ। इन शक्तिपुत्र के छह मुख थे।

इस स्कंद अवतरण को कुंडलिनी महाशक्ति से संबंधित षटचक्र समूह और उसके प्रभाव का वर्णन ही समझना चाहिए। जननेंद्रिय मूल में अवस्थित आधार अग्नि का नाम ही कुंडलिनी है। शिव रूप सहस्रार के जाग्रत-प्रफुल्लित होने पर उसका जो पराग मकरंद निर्झरित हुआ उसे शिव 'रेतस्' कहना चाहिए। कुंडलिनी आधार अग्नि ने उसे ग्रहण किया। छह कृतिकाओं ने उसे परिपक्व किया। ये छह कृतिकाएँ छह चक्र ही हैं। शिव और शक्ति का यह समन्वय-संयोग स्कंदरूपी महापराक्रम के रूप में प्रकट होता है। इसके छह मुख थे। छह कृतिकाओं द्वारा परिपोषित छह मुख वाले कार्तिकेय को अलंकार के रूप में षटचक्रों का प्रभाव-परिणाम ही माना जाए।

मूलाधार के ऊपर मेरुदंड के सहारे क्रमशः ऊपर उठते हुए छह चक्र हैं, यह ब्रह्मरंध्र से जुड़े हुए शक्ति-सामर्थ्यों के विशिष्ट पावर हाउस, या माइक्रोवेव स्टेशन कहे जा सकते हैं। नाभि की सीध में मूलाधार से ऊपर स्वाधिष्ठानचक्र, नाभि और हृदय के मध्य मणिपूर, हृदयस्थित अनाहत, कंठ में विशुद्धिचक्र तथा भ्रूमध्य में आज्ञाचक्र, ब्रह्मरंध्र में अवस्थित सहस्रार को गिनें, तो इनकी संख्या सात हो जाती है। इन स्थानों का परिचय वहाँ उपस्थित देव शक्तियों, वाहन, वर्ण, अक्षरतत्त्व आदि के माध्यम से दिया जाता है; ताकि साधक जब उनका वेधन करें, तो उसे यात्रा की तरह यह जानकारी बनी रहे कि उसकी स्थिति और प्रगति कहाँ तक हुई?

षटचक्र क्या है, कहाँ है, क्यों है, किस स्थिति में है, उनका क्या प्रयोजन है? इन प्रश्नों की यहाँ प्रारंभिक जानकारी ही प्राप्त कर लेनी चाहिए। उनके प्रयोग-उपयोग का शिक्षण भिन्न है और साधक की शारीरिक-मानसिक स्थिति के अनुरूप उन्हें सिखाने का विधान है। जननेंद्रिय के मूल में मेरुदंड का जहाँ अंत होता है, उस 'बीच जितना पोला स्थान' है, उसे साधनात्मक भाषा में योनि कंद कहते हैं। स्थूल शरीरशास्त्र के अनुसार वहाँ सुषुम्ना नाड़ी-गुच्छक भर हैं, पर सूक्ष्मशरीर रचना विज्ञान के अनुसार यहाँ एक विशेष अवयव है, जिसे मूलाधारचक्र कहते हैं। इसके नीचे की पीठ कछुए जैसी है इसे कूर्म कहते हैं। इसके ऊपर एक छोटा मेरुदंड है, उसे सुमेरु कहते हैं। इसके चारों ओर साढ़े तीन फेरे लगाए हुए एक शक्तिसूत्र विद्यमान है। बस यही मूलाधार है। इसे सब मिलाकर एक कुंड गह्वर में अवस्थित गेंद-कंद की समता देकर समझाया जा सकता है। प्रथम चक्र यही है। कुंडलिनी का मूल स्थान यही है। ईंधन न मिलने से जैसे अग्निकुंड में आग तो बुझ-सी जाती है, पर वहाँ गरमी बनी रहती है। यही स्थिति सामान्यतः सभी साधारण व्यक्तियों की होती है। प्रयत्न करने से प्राणरूपी ईंधन देने से यह प्रदीप्त होती है। उसकी लौ ऊपर उठती है।

षटचक्र नाम से सभी परिचित हैं, वस्तुतः यह छह नहीं सात हैं। सातवाँ सहस्रार है। उसे सबका अधिपति मानकर गणना से बाहर रखा गया है। इस प्रकार यह सात शक्तिचक्र, सात लोकों के सात ऋषियों के, सप्त धातुओं के, सप्तद्वीपों के प्रतीक समझे जा सकते हैं।

चक्रों में अंतर्हित शक्तियों और आकृतियों का उल्लेख साधना-शास्त्र में अनेक स्थानों पर मिलता है। उनमें थोड़ा मतभेद तो है, पर सामान्यतः उनकी संक्षिप्त जानकारी इस प्रकार दी गई है—

(१) मूलाधार—तत्त्व—पृथ्वी। रंग—पीला। तन्मात्रा—गंध। ध्वनि—लं। भू—लोक। स्थान—मल-मूत्र छिद्रों का मध्य। (२) स्वाधिष्ठान—तत्त्व—जल। रंग—सफेद। तन्मात्रा—रस। ध्वनि—वं। भुव—लोक। स्थान—पेडू की सीध। (३) मणिपूर—तत्त्व—अग्नि। रंग—लाल। ध्वनि—रं। लोक—स्वः। तन्मात्रा—रूप। स्थान—नाभि की सीध। (४) अनाहत—तत्त्व—वायु। रंग—धूम्र। ध्वनि—यं। तन्मात्रा—स्पर्श। लोक—महः। स्थान—हृदय की सीध। (५) विशुद्ध—तत्त्व—आकाश। रंग—नील। तन्मात्रा—शब्द। लोक—जन। ध्वनि—इं। स्थान—कंठमूल की सीध। (६) आज्ञाचक्र—लोक—तप। ध्वनि—ॐ। रंग—श्वेत। स्थान—भृकुटियों के मध्य। (७) सहस्रार—लोक सत्य। आकृति—सहस्रदल कमल। रंग—स्वर्णिम। मस्तिष्क के मध्य में 'रैटिकुलर ऐक्टिवेटिंग सिस्टम' से उसकी संगति बैठती है।

सात चक्रों में सन्निहित शक्ति-स्रोतों की तुलना किन भौतिक संस्थानों से, संप्रदाओं से, चेतनाओं से की जा सकती है। इसका तुलनात्मक आलंकारिक उल्लेख साधना ग्रंथों में इस प्रकार मिलता है—

महास्थतीर्थं विमले जले मुदा।
मूलाम्बुजे स्नाति स मुक्तिभाग्भवेत्॥

—महायोग विज्ञान

पृथ्वी के समस्त तीर्थ मूलाधारचक्र में निवास करते हैं। उसमें जो स्नान करता है, मुक्त हो जाता है।

स्वर्गस्थं यावता तीर्थं स्वाधिष्ठाने सुपङ्कजे।
मनो निधाय योगीन्द्रः स्नाति गङ्गाजले तथा॥
मणिपूरे देवतीर्थं पञ्चकुंड सरोवरम्।
तत्र श्रीकामना तीर्थं स्नाति यो मुक्तिमिच्छति॥

अनाहते सर्व तीर्थं सूर्यमंडलमध्यगम्।
विभाय सर्वतीर्थाणि स्नाति यो मुक्तिमिच्छति॥

—महायोग विज्ञान

स्वर्गस्थ तीर्थ स्वाधिष्ठानचक्र में विद्यमान है। यहाँ निवास करने वाली देव गंगा में योगी लोग स्नान करते हैं। मणिपूरचक्र देवतीर्थ है, उसमें पंचकुंड सरोवर हैं। वहाँ श्री कामतीर्थ है। अनाहत चक्र में सूर्यमंडल में वर्तमान समस्त तीर्थों का निवास है। इनमें स्नान करने वाले उन पुण्य लोकों के अधिकारी होते हैं।

मूलाधारे तु भूर्लोको स्वाधिष्ठाने भुवस्ततः।
स्वर्लोको नाभिदेशे च हृदये तु महस्तथा॥
जनलोकं कण्ठदेशे तपोलोकं ललाटके।
सत्यलोकं महारन्ध्रे यति लोकाः पृथक् पृथक्॥
तलम्पादाङ्गुष्ठतले तस्योपरि तलातलम्।
महातलं गुल्फमध्ये गुल्फोपरि रसातलम्॥
सुतलं जङ्घयोर्मध्ये वितलं जानुमध्यगम्।
ऊर्वोर्मध्ये तलम्प्रोक्तं सप्तपातालमीरितम्॥

—महायोग विज्ञान

मूलाधारचक्र में भूलोक, स्वाधिष्ठान में भुवलोक, नाभि में महलोक, कंठ में जनलोक, ललाट में तपलोक और ब्रह्मरंध्र में सत्यलोक है। इस प्रकार नीचे के भाग में सात पाताल लोक हैं। पैरों के तले में तललोक, पाँव के ऊपर भाग में तलातल लोक, गुल्फ के बीच महातल, गुल्फ के ऊपर रसातल, जंघाओं के मध्य वितल, उरुओं के मध्य पाताल है। इस प्रकार कटि से ऊपर सात और नीचे सात—कुल चौदह भुवन इसी शरीर में विद्यमान हैं। जो इस तथ्य को जानता है, दुःखों से छूटकर परमसुखी हो जाता है।

देहेऽस्मिन् वर्त्ततो मेरुः सप्तद्वीपसमन्वितः।
सरितः सागराः शैलाः क्षेत्राणि क्षेत्रपालकाः॥

ऋषयो मुनयः सर्वे नक्षत्राणि ग्रहास्तथा।
पुण्यतीर्थानि पीठानि वर्त्तन्ते पीठदेवताः॥
सृष्टिसंहारकर्त्तारौ भ्रमन्तौ शशिभास्करौ।
नभो वायुश्च वह्निश्च जलं पृथ्वी तथैव च॥
त्रैलोक्ये यानि भूतानि तानि सर्व्वाणि देहतः।
मेरुं संवेष्ट्य सर्व्वत्र व्यवहारः प्रवर्त्तते॥
जानाति यः सर्वमिदं स योगी नात्र संशयः।

—महायोग विज्ञान

इसी शरीर में सुमेरु, सातों द्वीप, समस्त नदियाँ, सागर, पर्वत, क्षेत्र, क्षेत्रपाल, ऋषि-मुनि, नक्षत्र, ग्रह, तीर्थ, पीठ, पीठ देवता, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, सूर्य, चंद्रमा, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी समस्त प्राणी जो कुछ संसार में हैं, सो सब इस सुमेरु (कुंडलिनी स्थित मेरु अथवा मेरुदंड) से लिपटे बैठे हैं और अपने-अपने कार्य कर रहे हैं। जो इस सबको जानता है, वही योगी है।

उपर्युक्त प्रतिपादन से स्पष्ट होता है कि यह शरीरमात्र सप्त धातुओं का ही बना नहीं है। उसमें (१) रस (२) रक्त (३) मांस (४) मज्जा (५) अस्थि (६) मेद (७) वीर्य ही नहीं, वरन उनके भीतर और भी दिव्य तत्त्व हैं। ये सातों धातुएँ सात चक्रों से प्रभावित होती हैं और हमारा शरीर अविज्ञात रूप से उन्हीं के द्वारा स्वस्थ-अस्वस्थ होता रहता है। आहार-व्यायाम ही नहीं, अंतरंग की गुह्य स्थिति जो चक्रों से संबंधित है, यदि ठीक प्रकार संचारित होती रहे, तो आरोग्य और दीर्घ जीवन की संभावनाएँ प्रखर हो सकती हैं। गुह्य स्थिति अस्त-व्यस्त रहे, तो पौष्टिक आहार और बहुत साज-सँभाल रखने पर भी शरीर दुर्बल एवं अस्वस्थ ही बना रहेगा। यही बात मनःसंस्थान की है। चेतना के विभिन्न स्तर इन चक्रों से प्रभावित होते हैं और चेतन-अचेतन मस्तिष्क के अवसाद को चेतना के उत्कर्ष में परिणत

किया जा सकता है। ऋद्धियों-सिद्धियों का जो चमत्कारी वर्णन साधना ग्रंथों में मिलता है। उतना ही नहीं, वरन उससे भी अधिक उपलब्धियाँ अपने भीतर भरे शक्ति-भंडार के साधना विज्ञान के आधार पर अभीष्ट प्रयोजनों के लिए उपयोग कर सकने योग्य बनाया जा सकता है।

जीवन एक यज्ञ है। मात्र हवन कुंडों में संपन्न होने वाले अग्निहोत्र ही यज्ञ नहीं हैं। शरीर-पिंड और विराट् ब्रह्मांड में उनके स्तर के अनुरूप छोटे और बड़े रूप से यह सूक्ष्म यज्ञ चलता रहता है। चक्रों को सात कुंड कहा जा सकता है, उनमें सात अग्नियों की स्थापना सात ऋषियों का पौरोहित, सात देवताओं का आह्वान, सात चरु, सात परिणाम भी यह साधना यज्ञ के होते हैं, इसे कुंडलिनी विद्या के अंतर्गत चक्र जागरण की प्रक्रिया द्वारा संपन्न किया जाता है—

सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्
सप्तार्चिषः समिधः सप्त होमाः।
सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा
गुहाशया निहिताः सप्त सप्त॥ ८॥

—मुण्डकोपनिषद २। १। ८

सप्त प्राण उसी से उत्पन्न हुए। अग्नि की सात ज्वालाएँ, सप्त समिधाएँ, सात यज्ञ, सात लोक—ये सातों उस परमेश्वर से उत्पन्न हुए हैं।

भूर्लोकस्था त्वमेवासि धरित्री शोकधारिणी।
भुवोर्लोके वायुशक्तिः स्वर्लोके तेजसां निधिः॥
महर्लोके महासिद्धिर्जनलोके जनेत्यपि।
तपस्विनी तपोलोके सत्यलोके तु सत्यवाक्॥

—देवी भागवत १२। ५। १२-१३

सात लोकों में आप सात शक्ति होकर विद्यमान हैं और उनका संचालन करती हैं। (१) भूलोक में धरित्री, (२) भुवर्लोक में वायु, (३) स्व:लोक में तेजपुंज, (४) मह:लोक में महासिद्धि, (५) जन:-लोक में जनन शक्ति, (६) तप:लोक में तपस्विनी, (७) सत्यलोक में सत्य वाक्।

सात चक्रों की भाँति शरीर में अन्यत्र भी कितने शक्ति-स्रोत हैं। इन्हें ग्रंथि उपत्यिका आदि कहते हैं। मस्तिष्क में विष्णुग्रंथि, हृदय में ब्रह्मग्रंथि और नाभि में रुद्रग्रंथि का स्थान है। यहाँ भी थोड़ा मतभेद है। हृदय स्थान में विष्णुग्रंथि और मस्तिष्क में ब्रह्मग्रंथि भी कही गई है। हमें इन नामभेदों में भी नहीं उलझना चाहिए और समझना चाहिए कि न केवल मेरुदंड में वरन मस्तिष्क हृदय एवं नाभि में ऐसे ही महत्त्वपूर्ण शक्तिचक्र हैं और उनका वेधन करने का विधान 'ग्रंथिभेद' के नाम से वर्णित है। यहाँ एक बात और ध्यान रखने की है—वेध शब्द का सामान्य अर्थ 'छेद' कर देना होता है। पर अध्यात्म की परिभाषा में उसे 'जागरण' अर्थ में प्रयोग किया गया है।

शरीर के पृष्ठ भाग के—सुषुम्ना संस्थान के षटचक्रों की तरह काया के अग्र भाग में भी छह चक्र अवस्थित हैं। उन्हें सूर्यचक्र, अग्निचक्र, अमृतचक्र, प्रभंजनचक्र, तड़ितचक्र, सोमचक्र कहा गया है।

पर्वतों से भरा जल जब एकत्रित होकर किसी स्थान विशेष से फूटता है, तो उसे 'झरना' कहते हैं। झरनों के उद्गम स्थान पर जलधारा कितनी प्रचंड होती है? ऊपर से नीचे गिरने पर वहाँ कितना कोलाहल होता है और कितनी उथल-पुथल मचती है, उसे सभी जानते हैं। चक्र संस्थानों को भँवर, चक्रवात की ही तरह एक उपमा झरना फटने की भी दी जा सकती है। ज्वालामुखी के छेद अकसर अग्नि, धुआँ या दूसरी चीजें उगलते रहते हैं। चक्रों से भी

उसी प्रकार का प्रकटीकरण होता रहता है। समुद्री लहरों से असीम विद्युत शक्ति उपलब्ध करने की तैयारियाँ हो रही हैं। चक्र संस्थान में उबलती शक्ति का उपयोग कर सकना उनके लिए संभव होता है, वे उसका ऐसा लाभ उठा सकते हैं, जिसे देव क्षमता कहकर संबोधित किया जा सके।

हारमोन ग्रंथियों के संबंध में खोज करने वाली शरीरशास्त्री आश्चर्यचकित हैं कि इन नन्हीं-सी ग्रंथियों से निकलने वाले रस मात्रा में कुछ ही बूँद होते हैं, पर शारीरिक और मानसिक स्थिति को कितना अधिक प्रभावित करते हैं। अंडकोश, गुरदे, जिगर, तिल्ली, पौरुष ग्रंथियाँ आदि को बड़ी ग्रंथियाँ ही कह सकते हैं। उनका क्रिया-कलाप स्थूल होने से सरलतापूर्वक समझा जा सकता है। हारमोन ग्रंथियों का रहस्योद्घाटन इससे बहुत कठिन है और बहुत माथापच्ची करने के बाद भी ठीक तरह पकड़ में नहीं आ रहा है। सूक्ष्म ग्रंथियाँ जिन्हें चक्र कहते हैं, इंद्रियों एवं उपकरणों की पहुँच से बाहर हैं। उन्हें जाग्रत अंतर्दृष्टि से ही देखा, समझा एवं प्रयोग में लाया जा सकता है। सूक्ष्म विज्ञान के आधार पर ही उनका अनुभव एवं उपयोग संभव होता है।

हठयोग-साधना के अंतर्गत आने वाले मेरुदंड के सुषुम्ना संस्थान में अवस्थित छह चक्रों के नाम हैं— (१) मूलाधारचक्र (२) स्वाधिष्ठानचक्र, (३) मणिपूरचक्र, (४) अनाहतचक्र, (५) विशुद्धचक्र, (६) आज्ञाचक्र।

इनमें शरीरशास्त्रियों ने चार को नाड़ी-गुच्छकों के रूप में मान्यता दे दी है। मूलाधारचक्र को पेल्विक प्लैक्सस। मणिपूरचक्र को—सोलर प्लैक्सस। अनाहतचक्र को—कॉर्डियल प्लैक्सस और विशुद्धचक्र को—फैरिंजियल प्लैक्सस नाम से निश्चित कर दिया गया है। शेष दो के बारे में प्राचीन व्याख्या एवं नवीन वास्तविकता में

थोड़ा अंतर एवं मतभेद है। आशा की जानी चाहिए कि वह गुत्थी भी निकट भविष्य में सुलझ ही जाएगी।

चक्र संस्थान के जागरण के फलस्वरूप मिलने वाली षट संपत्तियों का वर्णन मिलता है। इन्हें आध्यात्मिक उपलब्धियाँ कह सकते हैं।

षट संपत्ति ये हैं—(१) शम, (२) दम, (३) उपरति, (४) तितिक्षा, (५) श्रद्धा, (६) समाधान।

शम—अर्थात शांति उद्वेगों का शमन। दम—इंद्रियों का दमन करने की क्षमता। उपरति—दुष्टता से घृणा। तितिक्षा—कष्टों को धैर्यपूर्वक सहना। श्रद्धा—सन्मार्ग में प्रगाढ़ निष्ठा, विश्वास और भावना का समन्वय। समाधान—संशयों और लालसाओं से छुटकारा।

यह गुण-कर्म-स्वभाव की विशेषताएँ हैं। उत्कृष्ट चिंतन एवं आदर्श कर्तृत्व से मनुष्य ऊँचा उठता है और ब्रह्मपरायण व्यक्ति को मिलने वाले आंतरिक संतोष, उल्लास और बाह्य सम्मान, सहयोग का अधिकारी बनाता है।

इसके अतिरिक्त आत्मिक प्रगति के भौतिक लाभ भी कितने ही हैं। जिन्हें सिद्धियों के नाम से पुकारा गया है। आत्मिक सफलताओं के संपत्ति एवं विभूति दो नाम हैं। भौतिक प्रगति को समृद्धि एवं सिद्धि के नाम से संबोधित किया जाता है। दोनों के सम्मिलित परिणाम को अतींद्रिय क्षमता विकास के रूप में देखा जा सकता है।

श्री आद्य शंकराचार्य ने आठ सिद्धियाँ ये गिनाई हैं—(१) जन्मसिद्धि, (२) शब्दज्ञान सिद्धि, (३) शास्त्रज्ञान सिद्धि, (४) आधिदैविक ताप सहन शक्ति, (५) आध्यात्मिक ताप सहन शक्ति, (६) आधिभौतिक ताप सहन शक्ति, (७) विज्ञान सिद्धि, (८) विद्या शक्ति।

जन्मसिद्धि का अर्थ है—पूर्व जन्मों की स्थिति का आभास, पूर्व-जन्मों के संबंधियों के प्रति सहज आकर्षण तथा उनके और अपने पूर्व संबंधों की जानकारी।

शब्द सिद्धि का अर्थ है—शब्दों के साथ जुड़ी हुई भावना का आभास। शब्दों की शक्ति बड़ी सीमित है और उससे कुछ-का-कुछ उलटा-सीधा अप्रासांगिक अर्थ भी निकल सकता है। कहने वाले की भावना का सही अनुमान वही लगा सकता है, जिसका अंत:करण पवित्र हो।

शास्त्रसिद्धि का तात्पर्य है—शास्त्रकार की मूल भावना को समझना और यह जानना कि यह प्रतिपादन किस देश, काल, पात्र को ध्यान में रखकर किया गया है। कोई सिद्धांत या प्रतिपादन सार्वभौम या सर्वकालीन नहीं होता। यह शास्त्रवचन किस प्रकार प्रयुक्त करना चाहिए, यह सूक्ष्म ज्ञान होना ही शब्द की सिद्धि है।

आधिदैविक ताप सहन शक्ति का अर्थ है—दैवी प्रकोप अथवा प्रारब्ध जन्मयोग के कारण आकस्मिक-अनायास विपत्तियाँ उत्पन्न हो जाने, प्रियजनों के कारण बिछोह आदि के अवसर उपस्थित हो जाने पर उन शोक-संवेदनाओं का धैर्यपूर्वक सहन करना।

आध्यात्मिक ताप सहन शक्ति का तात्पर्य है—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, ईर्ष्या आदि उद्वेगों को नियंत्रण में रखना। इंद्रियों अमर्यादित योग को छूट न देना, मन को उच्छृंखल न होने देना। सतत अवरोध से भीतर जो असंतोष उत्पन्न होता है, उसको हँसते हुए टाल देना।

आधिभौतिक ताप सहन शक्ति का अर्थ है—सरदी, गरमी, भूख-प्यास, नींद, रोग, चोट आदि के शरीर कष्टों को समय पड़ने पर शांतिपूर्वक सह लेना और चित्त को अशांत उद्विग्न न होने देना।

विज्ञान शक्ति का अर्थ है—शुद्ध अंत:करण, निर्मल चरित्र, संतुलित मन, सौम्य स्वभाव और हँसमुख प्रकृति, निरालस्यता, स्फूर्तिवान और नियम-पालन की तत्परता, कर्त्तव्यपालन में प्रगाढ़ निष्ठा, उदार-व्यवहार में संतोष।

विद्या शक्ति अर्थात—आत्मा के स्वरूप, उद्देश्य तथा कर्त्तव्य भावना और विश्वास भरी निष्ठा, ईश्वर पर विश्वास, आत्मा को सर्वव्यापी समझकर सबको अपना ही समझना और आत्मीयता भरा व्यवहार करना, प्रेम भावनाओं का उभार, उद्वेग और आवेशों से निवृत्ति।

अतिवादी या अति उच्चस्तरीय अपवाद रूप में कहीं-कहीं, कभी-कभी सुनी-देखी जाने वाली सिद्धियों में (१) अणिमा, (२) महिमा, (३) गरिमा, (४) लघिमा, (५) प्राप्ति, (६) प्राकाम्य, (७) ईशत्व, (८) वशित्व का वर्णन मिलता है।

अणिमा अर्थात—शरीर को अणु के समान सूक्ष्म बना लेना। महिमा अर्थात—बहुत बड़ा कर लेना। गरिमा अर्थात—बहुत भारीपन। लघिमा अर्थात—बहुत हलकापन। प्राप्ति—दूरस्थ वस्तु की समीपता। प्राकाम्य—मनोरथों की पूर्ति। ईशत्व—स्वामित्व, अभीष्ट वस्तु व्यक्ति या परिस्थिति पर अधिकार। वशित्व—वशवर्ती बना लेना।

अष्टसिद्धियों का दूसरा वर्णन एक और भी मिलता है—(१) परकायाप्रवेश, (२) जलादि में असंग, (३) उत्क्रांति, (४) ज्वलन, (५) दिव्य श्रवण, (६) आकाश गमन, (७) प्रकाश आवरण क्षय, (८) भूत जय।

इस प्रकार के चमत्कार इन दिनों देखे नहीं जाते। जो दीखते हैं उनमें छल की मात्रा ही प्रमुख होती है। ऐसी दशा में हमें अनुभव में न आने वाली सिद्धियों पर ध्यान देने की अपेक्षा इतना ही सोचना है कि चक्रवेधन जैसी योग-साधनाओं का आश्रय लेकर हम सहज ही अपनी आत्मिक और भौतिक सामर्थ्यों को जगा सकते हैं और उस दिशा से मिलने वाली सफलता का इतना लाभ ले सकते हैं, जितना सामान्य पुरुषार्थ से संभव नहीं हो सकता। □

दिव्यशक्तियों का केंद्र—सहस्त्रार एवं ब्रह्मरंध्र

पिंड को ब्रह्मांड का एक छोटा-सा नमूना बताया गया है। वृक्ष का सारा कलेवर एक छोटे-से बीज में समाया रहता है। नन्हें क्षुद्र कीट में मनुष्य शरीर का सारा ढाँचा विद्यमान है। सौरमंडल के ग्रहों का पारस्परिक आकर्षण और क्रिया-कलाप जिस प्रक्रिया से चलता है, उसकी एक नन्हीं-सी प्रक्रिया परमाणु परिवार के इलेक्ट्रॉन, न्यूट्रॉन आदि प्रदर्शित करते हैं। इसीप्रकार समस्त ब्रह्मांड मनुष्य देह-पिंड में—एक लघु कलेवर में दृष्टिगोचर होता है। हमारी इसी छोटी-सी देह में वह सब कुछ विद्यमान है, जो इस निखिल विश्व-ब्रह्मांड में उपस्थित दृश्य और अदृश्य इकाइयों में पाया जाता है। इस पृथ्वी की समस्त विशेषताओं को भी हम अपनी इस छोटी-सी देह में विद्यमान देख सकते हैं।

पृथ्वी की समस्त शक्तियों, विशेषताओं और विभूतियों के उसके संतुलन बिंदु—उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव हैं। यहीं से सूत्र-संचालन होता है, जिसके कारण यह धरती एक सजीव पिंड एवं अगणित जीवधारियों की क्रीड़ा-स्थली बनी हुई है। यदि ध्रुवों की स्थिति में किसी प्रकार आघात पहुँच जाए या परिवर्तन उपस्थित हो जाए तो फिर इस भूमंडल का स्वरूप बदलकर कुछ और ही तरह का हो जाएगा। कहा जाता है कि किसी ध्रुव के संतुलन केंद्रबिंदु पर यदि एक घूँसा मार देने जितना आघात भी पहुँचा दिया जाए, तो यह पृथ्वी अपनी कक्षा से लाखों-करोड़ों मील इधर-उधर हट जाएगी और तब दिन, रात्रि, ऋतु, वर्षा, सरदी, गरमी आदि का सारा स्वरूप ही बदलकर किसी दूसरे क्रम में परिणत हो जाएगा। यह छोटा-सा घूँसा—आघात भू-पिंड को किसी अन्य ग्रह-नक्षत्र से टकराकर चूर-चूर हो जाने की स्थिति में डाल सकता है। कारण स्पष्ट है—

ध्रुव ही तो धरती का सारा नियंत्रण करते हैं और उन्हीं के शक्ति-संस्थान कठपुतली की तरह इस भूमंडल को विभिन्न क्रीड़ा-कलाप करने की प्रेरणा एवं क्षमता प्रदान करते हैं। दोनों ध्रुव ही तो उसकी क्रिया और चेतना के केंद्र बिंदु हैं।

जिस प्रकार पृथ्वी में चेतना एवं क्रिया उत्तरी-दक्षिणी ध्रुवों से प्राप्त होती है, उसी प्रकार मानव-पिंड देह के भी दो ही अति सूक्ष्म संस्थान हैं। उत्तरी ध्रुव हैं—ब्रह्मरंध्र, मस्तिष्क, सहस्रार कमल और दक्षिणी ध्रुव हैं—सुषुम्ना स्थान, कुंडलिनी केंद्र, मूलाधारचक्र। पौराणिक गाथा के अनुसार क्षीरसागर में सहस्र फन वाले शेषनाग पर विष्णु भगवान शयन करते हैं। यह क्षीरसागर मस्तिष्क में भरा सघन श्वेत परमाणु सघन स्नेह सरोवर ही है। सहस्रार कमल एक ऐसा परमाणु है, जो अन्य कोशों की तरह गोल न होकर आरी के दाँतों की तरह कोण-कलेवरों से आवेष्टित हैं। इन दाँतों को स्व फल कहते हैं। चेतना का केंद्रबिंदु इसी ध्रुवकण में प्रतिष्ठित है। चेतन और अचेतन मस्तिष्कों के अगणित घटकों को जो इंद्रियजन्य एवं अतींद्रिय ज्ञान प्राप्त होता है, उसका आधार यही ध्रुव विष्णुचक्र अथवा सहस्रार कमल है, ध्यान से लेकर समाधि तक और आत्मचिंतन से लेकर भक्ति योग तक की सारी आध्यात्मिक साधनाएँ तथा मनोबल, आत्मबल एवं संकल्पजन्य सिद्धियों को केंद्रबिंदु इसी स्थान को माना गया है।

दक्षिणी ध्रुव, सहस्रारचक्र मस्तिष्क के मध्य में अवस्थित बताया गया है। सिर के मध्य में एक हजार पंखुड़ियों का कमल है, उसे ही सहस्रारचक्र कहते हैं। उसी में ब्राह्मी शक्ति या शिव का वास बताया गया है। यहीं आकर कुंडलिनी शिव से मिल गई है। यहीं से सारे शरीर की गतिविधियों का उसी प्रकार संचालन होता है, जिस प्रकार परदे में बैठा हुआ कलाकार उँगलियों को गति दे-देकर कठपुतलियों

को नचाता है। इसे आत्मा का स्थान आदि कहते हैं। विराट् ब्रह्मांड में हलचल पैदा करने वाली सारी सूत्रशक्ति और विभाग इसी सहस्रार के आस-पास फैले पड़े हैं।

शास्त्रों में कुंडलिनी को अनेक शक्तियों और सिद्धियों का प्राण कहा है। सुषुप्त पड़ी कुंडलिनी को जाग्रत कर लेने वाला इस लोक के अनंत ऐश्वर्य का स्वामी बन जाता है। भारतवर्ष में इस विद्या की शोध की गई है। कुंडलिनी शक्ति की कोई सीमा और थाह नहीं है।

किंतु कुंडलिनी जाग्रत कर लेना जीव का अंतिम लक्ष्य नहीं है। जीव का अंतिम लक्ष्य है—मोक्ष की प्राप्ति या ब्रह्म-निर्वाण। अपने आप को ब्रह्म की सायुज्यता में पहुँचा देना ही मनुष्य देह धारण करने का उद्देश्य है। अनेक साधन और योग उसी के लिए बने हैं। कुंडलिनी का भी वही उद्देश्य है। उस पर अपनी टिप्पणी करते हुए हठयोग प्रदीपिका में लिखा है—

उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुंचिकया हठात्।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत्॥

—१०५

अर्थात जिस प्रकार कोई मनुष्य अपने बल से द्वार पर लगी हुई अर्गला आदि को ताली से खोलता है, उसी प्रकार योगी कुंडलिनी के अभ्यास द्वार सुषुम्ना के मार्ग का भेदन करता है और ब्रह्मलोक में पहुँचकर मोक्ष को प्राप्त होता है।

इस सहस्रारचक्र तक पहुँचने पर ही साधक को अमृतपान का सुख, विश्वदर्शन, संचालन की शक्ति और समाधि का आनंद मिलता है। उपर्युक्त श्लोक में जिस स्थान को ब्रह्मलोक कहा गया है, वह यही सहस्रारचक्र है। यहाँ तक पहुँचना बहुत कठिन होता है। अनेक साधक तो नीचे के ही चक्रों में रह जाते हैं और उनमें जो आनंद मिलता है, उसी में लीन हो जाते हैं। इसलिए

कुंडलिनी साधना द्वारा मिलने वाली प्रारंभिक सिद्धियों को बाधक माना गया है। जिस प्रकार धन-वैभव, ऐश्वर्य और सौंदर्यवती युवती पत्नियों का सुख पाकर मनुष्य संसार को ही सब कुछ समझ लेता है, उसी प्रकार कुंडलिनी का साधक भी बीच के ही छह चक्रों में दूर दर्शन, दूर श्रवण, दूसरों के मन की बात जानना, भविष्य दर्शन आदि अनेक सिद्धियाँ पाकर उनमें ही आनंद का अनुभव करने लगता है और परम पद का लक्ष्य अधूरा ही रह जाता है।

सहस्रारचक्र में पहुँचकर भी साधक बहुत समय तक उस पर स्थिर नहीं रह पाते हैं। वह साधक की आंतरिक और आध्यात्मिक शक्ति तथा साधना के स्वरूप पर निर्भर है कि वह सहस्रार में कितने समय तक रहता है? उसके बाद वह फिर निम्नतर लोकों के सुखों में जा भटकता है, पर जो अपने सहस्रार को स्थायी रूप से प्राप्त कर लेते हैं, वह पूर्ण ब्रह्म को प्राप्त कर अनंतकाल तक ऐश्वर्य सुखोपभोग करते हैं।

सहस्रार दोनों कनपटियों से २-२ इंच अंदर और भौहों से भी लगभग ३-३ इंच अंदर मस्तिष्क के मध्य में 'महाविवर' नामक महाछिद्र के ऊपर छोटे-से पोले भाग में ज्योतिपुंज के रूप में अवस्थित है। कुंडलिनी साधना द्वारा इसी छिद्र को तोड़कर ब्राह्मी स्थिति में प्रवेश करना पड़ता है, इसलिए इसे 'दशम द्वार' या ब्रह्मरंध्र भी कहते हैं। ध्यानबिंदूपनिषद में कहा है—

मस्तके मणिवद्भिन्नं यो जानाति स योगवित्।
तप्तचामीकराकारं तडिल्लेखेव विस्फुरत्॥

—४६

मस्तक में जो मणि के समान प्रकाश है, जो उसे जानते हैं वही योगी हैं। तप्त स्वर्ण के समान विद्युत धारा-सी प्रकाशित वह मणि

अग्नि स्थान से चार अंगुल ऊर्ध्व और मेरु स्थान के नीचे है। यह स्वाधिष्ठानचक्र के आश्रय में है और स्वयं नादयुक्त है।

इस स्थान पर पहुँचने की शक्तियों का वर्णन करते हुए शास्त्रकार ने कहा है, "**तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति**" अर्थात वह परम-विज्ञानी, त्रिकालदर्शी और सब कुछ कर सकने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। वह चाहे जो कुछ करे उसे कोई पाप नहीं होता। उसे कोई जीत नहीं सकता।

ब्रह्मरंध्र एक प्रकार से जीवात्मा का कार्यालय है। इस दृश्य जगत् में जो कुछ है और जहाँ तक हमारी दृष्टि पहुँच नहीं सकती उन सबकी प्राप्ति की प्रयोगशाला है। भारतीय तत्त्वदर्शन के अनुसार यहाँ १७ तत्त्वों से संगठित ऐसे विलक्षण ज्योतिपुंज विद्यमान हैं जो दृश्य जगत में स्थूल नेत्रों से कहीं भी नहीं देखे जा सकते। समस्त ज्ञानवाहक सूत्र और वात नाड़ियाँ यहीं से निकलकर सारे शरीर में फैलती हैं। सूत्रात्मा इसी भास्वर श्वेत दल कमल में बैठा हुआ चाहे जिस नाड़ी के माध्यम से शरीर के किसी भी अंग को आदेश, निर्देश और संदेश भेजता तथा प्राप्त करता रहता है। वह किसी भी स्थान में हलचल पैदा कर सकता है। किसी भी स्थान की बिना किसी बाह्य उपकरण के सफाई और प्राण वर्षा आदि जो हम सब नहीं कर सकते, वह सब कुछ कर सकता है। यह सब ज्योतिपुंजों के स्फुरण, आकुंचन-प्रकुंचन आदि से होता है। नाक, जीभ, नेत्र, कर्ण, त्वचा इन सभी स्थूल इंद्रियों को यह प्रकाश-गोलक ही काम कराते हैं और उन पर नियंत्रण सहस्रारवासी परमात्मा का होता है। ध्यान की पूर्णावस्था में यह प्रकाश टिमटिमाते जुगनू, चमकते तारे, चमकीली कलियाँ, मोमबत्ती, आधे या पूर्ण चंद्रमा आदि के प्रकाश-सा झलकता है। धीरे-धीरे उनका दिव्य रूप प्रतिभासित होने लगता है, उससे स्थूल इंद्रियों की गतिविधियों में शिथिलता आने लगती है और

आत्मा का कार्यक्षेत्र सारे विश्व में प्रकाशित होने लगता है। सामान्य व्यक्ति को केवल अपने शरीर और संबंधियों तक की ही चिंता होती है, उस पर योगी की व्यवस्था का क्षेत्र सारी पृथ्वी और दूसरे लोकों तक फैल जाता है। उसे यह भी देखना पड़ता है कि ग्रह-नक्षत्रों की क्रियाएँ भी तो असंतुलित नहीं हो रहीं। स्थूल रूप से इन गतिविधियों से पृथ्वीवासी भी प्रभावित होते रहते हैं। इसलिए अनजाने में ही ऐसी ब्राह्मी स्थिति का साधक लोगों का केवल हित संपादित किया करता है। उसे जो अधिकार और सामर्थ्य मिली होती है, वह इतने बड़े उत्तरदायित्व को सँभालने की दृष्टि से ही होती है। वैसे वह भले ही शरीरधारी दिखाई दे, पर उसे शरीर की सत्ता का बिलकुल ज्ञान नहीं होता। वह सब कुछ जानता, देखता, सुनता और आगे क्या होने वाला है, यह वह सब पहचानता है।

विज्ञानमयकोश और मनोमयकोश के अध्यक्ष मन और बुद्धि यहीं रहते हैं और ज्ञानेंद्रिय से परे दूर के या कहीं भी छिपे हुए पदार्थों के समाचार पहुँचाते रहते हैं। आत्मसंकल्प जब चित्त वाले क्षेत्र से बुद्धि वाले क्षेत्र में पदार्पण करता है, तब दिव्य दृष्टि बनती है और वह आज्ञाचक्र से निकलकर विश्व-ब्रह्मांड में जो अनेक प्रकार की रश्मियाँ फैली हैं, उनसे मिलकर किसी भी लोक से भी तादात्म्य प्राप्त कर लेती हैं। विद्युत तरंगों के माध्यम से जिस प्रकार अंतरिक्ष- यानों को पृथ्वी से ही दाहिने-बायें (ट्रैवर्स) किया जा सकता है। जिस प्रकार टेलीविजन के द्वारा कहीं का भी दृश्य देखा जा सकता है। इसी प्रकार बुद्धि और संकल्प की रश्मियों से कहीं के भी दृश्य देखे जाना या किसी भी हलचल में हस्तक्षेप करना मनुष्य के लिए भी संभव हो जाता है। मुंडक और छांदोग्योपनिषद में क्रमशः खंड २ और ९ में इन साक्षात्कारों का विशद वर्णन है और कहा गया है—"**हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म**

निष्कलं। तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद् यदात्माविदो विदुः।'' अर्थात आत्मज्ञ पुरुष इस हिरण्यमयकोश में शुभ्रतम ज्योति के रूप में उस कला रहित ब्रह्म का साक्षात्कार करते हैं।

सहस्रार साधना के अनेकों स्वरूप, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि के प्रयोग-अभ्यासों के रूप में प्रस्तुत किए गए हैं। उनकी सफलताओं के फलस्वरूप मिलने वाले सत्परिणामों का आकर्षक वर्णन हुआ है। उस क्षेत्र की सफलताओं का भौतिक और आत्मिक ऋद्धि-सिद्धियों के रूप में माहात्म्य बताया गया है।

मस्तिष्क में विलक्षण शक्तिकेंद्रों की बात वर्तमान वैज्ञानिक भी मानते हैं। मस्तिष्कशास्त्र के प्रतिष्ठित वैज्ञानिक स्मिथी की शोध के अनुसार शुद्ध बुद्धि (प्योर इन्टैलिजेंस) मानवी मस्तिष्क के विभिन्न केंद्रों से नियंत्रित होती है। यह सबकी साझेदारी का उत्पादन है। यही वह सार भाग है, जिससे व्यक्तित्व का स्वरूप बनता और निखरता है। स्मृति (मैमोरी), विश्लेषण (एनालैसिस), संरचना (सिंथैसिस), चयन-निर्धारण (सिलेक्टिविटी) आदि की क्षमताएँ मिलकर ही मानसिक स्तर बनाती हैं। इनका सम्मिश्रण एवं उत्पादन कहाँ होता है ? वे परस्पर कहाँ गुथती हैं, इसका ठीक से निर्धारण तो नहीं हो सका पर समझा गया है कि वह स्थान (सेरिबेलम) लघु मस्तिष्क में होना चाहिए। यही वह मर्मस्थल है, जिसका थोड़ा भी विकास-परिष्कार संभव हो सके, तो व्यक्तित्व का ढाँचा समुन्नत हो सकता है। इसी केंद्र स्थान को अध्यात्मशास्त्रियों ने बहुत समय पूर्व जाना और उसका नामकरण 'सहस्रार' किया है।

मस्तिष्क के गहन अनुसंधान में कितनी ही ऐसी परतें सामने आती हैं जो सोचने-विचारने में सहायता देने भर का ही नहीं, वरन समूचे व्यक्तित्व के निर्माण में भारी योगदान करती हैं। इस तरह की विशिष्ट क्षमताओं का क्षेत्र 'फ्रंटल लोब' है। इसमें मनुष्य के व्यक्तित्व

(पर्सनालिटी), कल्पना (इमैजिनेशन), आकांक्षाएँ (एंबिशन्स), व्यवहार प्रक्रिया, अनुभूतियाँ, संवेदनाएँ आदि अनेक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्तियों का निर्माण, निर्धारण होता है। इस केंद्र को प्रभावित कर सकना किसी ओषधि उपचार या शल्य क्रिया से संभव नहीं हो सकता। इसके लिए ध्यान-धारणा जैसी वे साधनाएँ ही उपयुक्त हो सकती हैं, जिन्हें कुंडलिनी जागरण प्रक्रिया के अंतर्गत प्रायः काम में लाया जाता है।

ऊपर मस्तिष्क के एकाध केंद्र की सांकेतिक चर्चा भर कर दी गई है। मस्तिष्क क्षेत्र अगणित रहस्यमय शक्तियों से भरा हुआ माना जाता है। मस्तिष्क के संबंध में वर्तमान वैज्ञानिक मान्यताओं की संगति इस संबंध में भारतीय दार्शनिक मान्यताओं से भी बैठती है।

मोटे विभाजन की दृष्टि से मस्तिष्क को पाँच भागों में विभक्त किया जाता है। (१) वृहद् मस्तिष्क (सेरिब्रम), (२) लघु मस्तिष्क (सेरिबेलम), (३) माध्यमिक मस्तिष्क (मिडब्रेन), (४) मस्तिष्क सेतु (पाँज) एवं (५) सुषुम्ना शीर्ष (मैडुला ऑब्लाँगेटा)। इनमें से अंतिम तीन अर्थात मिडब्रेन, पाँज एवं मैडुला को संयुक्त रूप से मस्तिष्क स्तंभ (ब्रेनस्टेम) भी कहते हैं।

अध्यात्मशास्त्र के अनुसार मस्तिष्क रूपी स्वर्गलोक में यों तो तैंतीस कोटि देवता रहते हैं, पर उनमें से पाँच मुख्य हैं। इन्हीं का समस्त देव संस्थान पर नियंत्रण है। मस्तिष्कीय पाँच क्षेत्रों को पाँच देव परिधि कह सकते हैं। इन्हीं के द्वारा पाँच कोशों की पाँच शक्तियों का संचार-संचालन होता है। गायत्री की पंचमुखी साधना में इन पाँचों को समान रूप से विकसित होने का अवसर मिलता है। तदनुसार इस ब्रह्मलोक में, देवलोक में निवास करने वाला जीवात्मा स्वर्गीय परिस्थितियों के बीच रहता हुआ अनुभव करता है।

यह एक प्रकार के विभाजन की बात हुई। अनेक विद्वान् एक ही तथ्य के बारे में भिन्न-भिन्न प्रकार की विवेचनाएँ प्राचीनकाल से

ही करते रहे हैं और आज भी करते हैं। मस्तिष्क के विभाजन तथा सहस्रारचक्र के संबंध में भी इसी प्रकार एक ही तथ्य के भिन्न-भिन्न विवेचन मिलते हैं।

सहस्रारचक्र को अमृतकलश भी कहा गया है। उसमें से सोम रस स्रवित होने की चर्चा है। देवता इसी अमृतकलश से सुधापान करते और अमर बनते हैं।

वर्तमान वैज्ञानिक मान्यतानुसार मस्तिष्क में एक विशेष द्रव 'सैरिब्रो स्पाइनल फ्ल्यूड' भरा रहता है। यही मस्तिष्क के भिन्न-भिन्न केंद्रों को पोषण और संरक्षण देता रहता है। मस्तिष्क की झिल्लियों से यह झरता रहता है और विभिन्न केंद्रों तथा सुषुम्ना में सोखा जाता है।

अमृतकलश के सोलह पटल गिनाए गए हैं। इसी प्रकार कहीं-कहीं सहस्रार की १६ पंखुड़ियों का भी वर्णन है। यह मस्तिष्क के ही १६ महत्त्वपूर्ण विभाग-विभाजन हैं। शिव संहिता में भी सहस्रार की १६ कलाओं का वर्णन है—

शिरःकपालविवरे ध्यायेत् षोडसीकला।
तत्र स्थित्वा सहस्रारे पद्मचंद्र विचिन्तयेत्॥

—योग मंजूषा

कपाल के मध्य चंद्रमा के समान प्रकाशवान सोलह कला युक्त सहस्रारचक्र का ध्यान करें।

सहस्रार की ये सोलह कलाएँ मस्तिष्क के 'सैरिब्रोस्पाइनल फ्ल्यूड' से संबंधित मस्तिष्क के सोलह विभाग हैं। पूर्वोक्त पाँच स्थूल विभागों को अधिक विस्तार से व्यक्त किया जाए तो उसके निम्नांकित १६ विभाग होते हैं—

(१) वृहद् मस्तिष्क (सैरिब्रम), (२) लघु मस्तिष्क (सैरिबेलम), (३) सुषुम्ना शीर्ष (मैडुला ऑब्लाँगेटा), (४) सेतु (पाँज), (५) मध्य

मस्तिष्क (मिडब्रेन), (६) महासंयोजक (कॉर्पस कलोसम), (७) रखी पिंड (कॉर्पर्स स्ट्रेटम), (८) पीयूस ग्रंथि (पिट्यूटरी ग्लैंड), (९) शीर्ष ग्रंथि (पीनियल ग्लैंड), (१०) चेतक (थैलेमस), (११) अध:चेतक (हाइपो थैलेमस) (१२) उपचेतक (सब थैलेमस), (१३) अनुचेतक (मैटा थैलेमस), (१४) ऊर्ध्व चेतक (एपी थैलेमस), (१५) संचार जालिकाएँ, (कॉर्डप्लैक्सैसेज), (१६) प्रकोष्ठ वैंट्रिकल्स।

इन सभी विभागों में शरीर को संचालित करने वाले अतींद्रिय क्षमताओं से युक्त अनेक केंद्र हैं। सहस्रार अमृतकलश से जाग्रत करके उन्हें अत्यधिक सक्रिय बनाकर असाधारण लाभ प्राप्त किए जा सकते हैं। शास्त्रों में इस संदर्भ में स्पष्ट उल्लेख किया गया है—

इदं स्थानं ज्ञात्वा नियतनिजचित्तो नरवरो।
न भूयात् संसारे पुनरपि न बद्धस्त्रिभुवने॥
समग्रा शक्तिः स्यान्नियतमनसस्तस्य कृतिनः।
सदा कर्तुं हर्तुं खगतिरपि वाणी सुविमला॥

—षटचक्र निरूपण

इस सहस्रार कमल की साधना से योगी चित्त को स्थिर कर आत्मभाव में लीन हो जाता है। भव-बंधन से छूट जाता है। सभी शक्तियों से संपन्न होता है। स्वच्छंद विचरता है और उसकी वाणी विमल हो जाती है।

शिरःकपालविवरे ध्यायेद्दुग्धमहोदधिम्।
तत्र स्थित्वा सहस्रारे पद्मे चन्द्रं विचिन्तयेत्॥

—शिव संहिता ५। १७९

कपाल की गुफा में क्षीर सागर समुद्र का तथा सहस्रदल कमल में चंद्रमा जैसे प्रकाश का ध्यान करें।

तस्माद् गलितपीयूषं पिबेद्योगी निरंतरम्।
मृत्योर्मृत्युं विधायाशु कुलं जित्वा सरोरुहे॥

अत्र कुंडलिनीशक्तिर्लयं याति कुलाभिधा।
तदा चतुर्विधा सृष्टिर्लीयते परमात्मनि॥

—शिव संहिता ५/ १९२-१९३

जो योगी सहस्रार से स्रवित हो रहे पीयूष का निरंतर पान करता है, वह मृत्यु की ही मृत्यु का विधान रचने में समर्थ होता है। अर्थात मृत्यु उसे मृत्यु के समान नहीं प्रतीत होती, वह मृत्यु से परे का जीवन जीता है। यहीं इसी सहस्रार में कुंडलिनी शक्ति का लय होता है और तब चारों प्रकार की सृष्टि परमात्मा में ही लीन हो जाती है, सभी कुछ परमात्मामय हो जाता है।

येन पूता ऋचः सामानियजुर्ब्राह्मणं सह येन पूतम्।
तेना सहस्त्रधारेण पवमानः पुनातु माम्॥

—यजुर्वेद

जिससे ऋचाएँ, साम, यजु और ब्राह्मण पवित्र हुए उस सहस्रधारा वाले सोम से पवमान मुझे पवित्र करें।

सहस्रार क्या है? इसका उत्तर शरीरशास्त्र के अनुसार अब इतना मात्र माना जा सका है कि मस्तिष्क के माध्यम से समस्त शरीर के संचालन के लिए जो विद्युत उन्मेष पैदा होते हैं, वे आहार से नहीं, वरन मस्तिष्क के एक विशेष संस्थान से उद्‌भूत होते हैं। वह मनुष्य का अपना उत्पादन नहीं, वरन दैवी अनुदान है। आमाशय, हृदय आदि अवयव तो उसी ऊर्जा से अपने काम कर सकने की क्षमता प्राप्त करते हैं। रक्त से शरीर के अवयवों को पोषण मिलता है, यह सत्य है। फेफड़े साँस का और पाचन तंत्र आहार का साधन जुटाते हैं यह भी सही है; पर देखना फिर भी शेष रह जाता है कि यह सारी मशीन निर्वाह की आवश्यकता पूरी करने में जुटी हुई है, वह अपने लिए मूल ऊर्जा कहाँ से पाती है? यह समाधान सही नहीं है कि आहार एवं साँस आदि से ही जीवन-ऊर्जा

मिलती है। यदि ऐसा रहा होता, तो भूख या दम घुटने के बिना किसी की मृत्यु ही न होती।

मस्तिष्क के मध्य भाग से यह विद्युत उन्मेष रह-रहकर सतत प्रस्फुटित होते रहते हैं। उसे एक विलक्षण विद्युतीय फुहारा कहा जा सकता है। वहाँ से तनिक-तनिक रुक-रुककर एक फुलझड़ी-सी जलती रहती है। हृदय की धड़कन में भी ऐसे ही मध्यवर्ती विराम रहते हैं। ताप-ध्वनि आदि की प्रवाहमान तरंगों में भी उतार-चढ़ाव होते हैं। मस्तिष्कीय मध्य बिंदु में अवस्थित ऊर्जा-उद्‌गम की गतिविधि भी ठीक उसी प्रकार की है। वैज्ञानिक इन उन्मेषों को मस्तिष्क के विभिन्न केंद्रों की सक्रियता-स्फुरण का मुख्य आधार मानते हैं। भारतीय योग ग्रंथों में भी इसी बात को अपने ढंग से व्यक्त किया गया है।

मस्तके मणिवद् भिन्नं यो जानाति स योगवित्।
तप्तचामीकराकारं तडिल्लेखेव विस्फुरत्॥

—ध्यान बिंदूपनिषद्

मस्तिष्क के मध्य मणिवत प्रकाश है। उसमें से तप्त स्वर्ण के समान विद्युत धाराओं का स्फुरण होता है। जो इस रहस्य को जानता है, वह योगी है।

ब्रह्मज्योतिर्वसुधामा ब्रह्मस्थानीय उच्यते।
ततो यः पावको नाम्ना यः सद्भिर्योग उच्यते॥

—मत्स्य पुराण

ब्रह्मज्योति अग्नि रूप से ब्रह्मरंध्र में निवास करती है, यह साधक को पवित्र करती है, यही योगाग्नि है।

इस मस्तिष्कीय ऊर्जा-उद्‌गम को शरीरशास्त्र के अनुसार सहस्रार-चक्र कहा जा सकता है। सहस्र का अर्थ यों 'हजार' होता है, पर यहाँ उसका तात्पर्य हजारों से, अगणितों से है, पर ब्रह्म को

"**सहस्त्रशीर्षा पुरुषः सहस्त्राक्षः सहस्त्रपात्**" कहा गया है। इसका तात्पर्य पूरे एक हजार आँख, हाथ-पैर वाला नहीं, वरन हजारों-अगणितों वाला समझा जाना चाहिए। मस्तिष्कीय उद्‌गम से उभरने वाली फुलझड़ी की पूरी एक हजार नहीं, वरन अगणित चिनगारियाँ उड़ती हैं। उस फुहारे की बूँदों की संख्या पूरी एक हजार नहीं, वरन हजारों, असंख्यों हैं। इस 'सहस्त्र' प्रतिपादन के आधार पर ही उस उद्‌गम को 'सहस्त्रार' कहा गया है।

मस्तिष्क में मस्तिष्कीय विद्युत की अगणित धाराएँ प्रवाहित होने की बात वर्तमान विज्ञान मानता है। आवश्यकतानुसार ये धाराएँ अगणित दिशाओं में अगणित विशिष्ट तंतुओं द्वारा प्रवाहित होती हैं, इन्हें वैज्ञानिकों ने उनकी प्रवृत्ति के अनुसार अनेक वर्गों में विभाजित कर रखा है। जैसे—ऊर्ध्वमुखी मस्तिष्कीय स्फुरण (ॲसेंडिंग रेटिकुलर एक्टिवेटिंग सिस्टम), अधोमुखी म० स्फु० (डिसेंडिंग रेटि० एक्टि० सि०) विशिष्ट चेतक स्फुरण (स्पैसिफिक थैलेमिक प्रोजेक्शन), प्रस्तुत चे० स्फु० (डिफ्यूज्ड थै० प्रो०), स्तंभिक स्फुरण (ब्रेनस्टेम रैटि० फार्मेशन) आदि। इन स्फुरण संस्थानों का संयुक्त प्रभाव योग दृष्टि से मस्तिष्क में विद्युतीय उन्मेष की सहस्त्रों धाराओं के रूप में दिखना स्वाभाविक है।

सहस्त्रदल कमल तथा शेषनाग के सहस्त्र फन माने जाने की उक्ति का आधार भी यही है। ब्रह्मलोक एवं क्षीरसागर के मध्य विष्णु भगवान का कुंडली मारे हुए शेषनाग पर शयन करना, यह आकृति भी सहस्त्रार की स्थिति समझने की दृष्टि से ही बनी है। क्षीरसागर अर्थात मस्तिष्कीय मज्जा। कुंडलाकार सहस्त्रमुख सर्प अर्थात सहस्त्रार चीरने के आरे में दाँते हैं। पहिये में भी आरे होते हैं। चक्र, सुदर्शन जैसे अस्त्र भी दाँतेदार होते थे। 'सहस्त्रार' नामकरण की संगति इन्हीं सब बातों के साथ मिलती है।

सहस्रार की सूर्य (सहस्ररश्मि) की उपमा दी गई है। सूर्य की ऊर्जा से पूरा सौरमंडल प्रकाशवान एवं गतिशील है। मानवी सत्ता का प्रत्येक घटक मस्तिष्कीय ऊर्जा से अनुप्राणित होता है। अस्तु, उसे पिंडरूपी भूलोक का अधिष्ठाता सूर्य कहा जाए, तो यह रूपक सर्वथा उपयुक्त ही माना जाएगा। सहस्रार की ब्रह्मसत्ता को सूर्य की उपमा दी गई है—

सहस्रारे महापद्मे कर्णिकामुद्रितश्चरेत्।
आत्मातत्रैव व देवेशि केवलः पारदीपमः॥
सूर्य कोटि प्रतीकाशः चंद्रकोटि सुशीतलः।
अतीव कमनीयश्च महाकुंडलिनो युतः॥

—स्कंद पुराण

"हे देवेश! सहस्रदल महापद्म में मुद्रित कर्णिका के अंदर पारद की भाँति आत्मा का निवास है। यद्यपि उसका तेज करोड़ों सूर्यों के समान है, परंतु स्निग्धता में वह करोड़ों चंद्रमाओं के तुल्य है। यह परम पदार्थ अतिशय मनोहर तथा कुंडलिनी शक्ति से समन्वित है।"

ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः।

—यजुर्वेद २३, ४८

यह सूर्य ब्रह्मतत्त्व ही है, जिसका भौतिक प्रतीक स्थूल सूर्य है।

"य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः।"

—बृहदारण्यकोपनिषद् ३.७.९

"जो सूर्य में रहने वाला सूर्य का अंतवर्ती है, जिसे सूर्य नहीं जानता, सूर्य जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर सूर्य का नियम करता है, वह तुम्हारी आत्मा अंतर्यामी अमृत है।"

देवोऽयं भगवान्भानुरन्तर्यामी सनातनः। *—सूर्य पुराण*

यह सूर्य देवता अंतर्यामी सनातन भगवान ही है।

जिस प्रकार सूर्य से सौरमंडल को ऊर्जा मिलती है, उसी प्रकार सहस्त्र धारा वाले ऊर्जा-उद्‌गम से मस्तिष्कीय संयत्र को गतिशील बनने की क्षमता उपलब्ध होती है। मील, कारखानों में अनेकों मशीनें चलती हैं। उन्हें चलाने के लिए बिजली की मोटर लगी होती है। मोटर चलती है और उसकी ताकत से मशीनें सक्रिय होती हैं। किंतु मोटर को चलाने वाली बिजली उसकी अपनी कमाई नहीं है। वह कहीं अन्यत्र से आती है। मस्तिष्क को मोटर और शरीर के अवयवों को छोटी-बड़ी मशीनें कहा जा सकता है। इस सारे मिल, कारखाने को चलाने के लिए आवश्यक शक्ति कहीं अन्यत्र से आती है। इसे ध्रुवीय क्षेत्र से पृथ्वी को मिलने वाले अनुदान-प्रवाह के समतुल्य माना जा सकता है। यह अंतर्गृही ऊर्जा का ही अनुदान है। व्यक्ति यों स्वतंत्र है, स्वभाग्य निर्माता है, फिर भी व्यक्ति को व्यक्तित्व प्रदान करने वाली ऊर्जा को ब्राह्मी अनुदान ही माना जाएगा। यह धारा जिस क्षण रुकती है, तत्काल मरण सामने उपस्थित होता है। हृदय की धड़कन पूर्णत: बंद हो जाने पर भी उसे कृत्रिम उपायों से पुन: क्रियाशील बनाया जा सकता है। किंतु जब सहस्त्रार का विद्युत उभार अपना उछलना बंद कर दे, तो समझना चाहिए कि अंतिम मृत्यु हो गई। कनेक्शन कट जाने पर फिटिंग और बल्ब सही होने पर भी अँधेरा छा जाता है। अवयवों के सही सलामत होने पर भी मस्तिष्कीय उत्पादन के बिना जीवित नहीं रहा जा सकता।

जीवन का आरंभ और अंत स्थूल विवेचना के अनुसार जिस भी तरह बताया जाए, सूक्ष्म विज्ञान के अनुसार उसका समूचा आधार 'सहस्त्रार' की सक्रियता पर अवलंबित है। इतना ही नहीं, आगे की बात भी यहीं से चलती है। सहस्त्रार मात्र जीवन का ही उद्‌गम नहीं है, वरन व्यक्तित्व का स्वरूप एवं स्तर की दिशाधारा

भी यहीं से निर्धारित होती है। ढलान का तनिक-सा अंतर होने पर वर्षा का जल अपने बहाव की दिशा बदलता है। एक स्थान की ढलान जिस वर्षा जल को किसी नदी में पहुँचाती है, तो उसके समीप की ढलान दूसरी ओर होने के कारण वर्षा-जल को किसी अन्य नदी में ले जाकर पटकती है। ढलान के आरंभ में कुछ इंचों का अंतर था, पर बहते हुए वर्षा-जल को भिन्न नदियों में जा पहुँचने का अंतर सैकड़ों-हजारों मील का बन जाता है। जंक्शन स्टेशन पर एक ही लाइन में खड़ी गाड़ियाँ लीवर बदलने के आधार पर भिन्न-भिन्न दिशाओं में चल पड़ती हैं। लीवर का अंतर कुछ इंचों का ही होता है, पर चल पड़ने वाली गाड़ियों में दूरी का अंतर निरंतर बढ़ता जाता है। सहस्त्रार उद्‌गम में राई-रत्ती अंतर रहने से व्यक्तित्व के बाहरी और भीतरी ढाँचे में आश्चर्यजनक अंतर उपस्थित हो जाता है।

पृथ्वी के अंतर्गृही ही अनुदानों में न्यूनाधिकता करने की बात सोचना भी वैज्ञानिकों के लिए डरावनी आशंकाएँ और विभीषिकाएँ सामने ला खड़ी करता है। वे उस दिशा में कदम बढ़ाने की कल्पना करते ही काँपने लगते हैं। तनिक-भी उलट-पुलट होने पर सर्वनाश का अनर्थ खड़ा हो सकता है। यों अनुकूल उपाय बन पड़े, तो पृथ्वी-निवासियों को उसका असीम लाभ भी मिल सकता है। तब हम अकल्पनीय सुविधा-साधनों के अधिपति बन सकते हैं। आवश्यक ज्ञान के अभाव में वैज्ञानिक कोई बड़े कदम उठाने का साहस नहीं कर रहे हैं, केवल वे धीमे पैरों ध्रुवीय क्षेत्र की खोज कर रहे हैं। पृथ्वी की धुरी न तो अभी उन्हें मिली है और न उसके लिए गंभीरतापूर्वक प्रयत्न ही हुआ है।

मानवी सत्ता के ध्रुवकेंद्र मस्तिष्कीय धुरी संस्थान सहस्त्रार के संबंध में वैसा कोई जोखिम नहीं है। भौतिक शक्ति दैत्य है। बिजली

का, आग का तनिक भी असावधानी से प्रयोग करने पर प्राण-संकट सामने आ उपस्थित होगा; किंतु माता और बच्चे के बीच व्यवहार की कोई भूल-चूक बन पड़ने पर भी कोई बड़ा विग्रह उत्पन्न नहीं होता, मामूली ही अनबन भी देर तक नहीं टिकती। आत्मचेतना और प्रकृति-चेतना में यही भौतिक अंतर है। सहस्रार में आत्मा और परमात्मा का मिलन संस्थान है। यह चेतनात्मक आदान-प्रदान है। इसमें उच्चस्तरीय भाव-संवेदनाएँ भरी पड़ी हैं। अध्यात्म, साधनाओं का स्वरूप सद्भाव संपन्नता के साथ जोड़कर बनाया गया है। अस्तु, उनमें श्रेष्ठताओं के देव अनुदान ही मिलते हैं।

सहस्रारचक्र का संबंध रंध्र से है। ब्रह्मरंध्र को दशम द्वार कहा गया है। नौ द्वार तो दो नथुने, दो आँखें, दो कान, एक मुख, दो मल-मूत्र छिद्र सर्वविदित हैं। दसवाँ द्वार ब्रह्मरंध्र है। योगीजन इसी में होकर प्राण त्यागते हैं। मरणोपरांत कपाल क्रिया करने का उद्देश्य यही है कि प्राण का कोई अंश शेष रह गया हो, तो वह उसी में होकर निकले और ऊर्ध्व गति प्राप्त करे।

नवजात शिशु की खोपड़ी के मध्य भाग में थोड़ा-सा खाली स्थान होता है। जिसमें हड्डी न होकर झिल्ली होती है। यह स्थान पीरिटल और आस्सीविटल हड्डियों के बीच में है। शरीर-वृद्धि के साथ-साथ बगल की हड्डियाँ बढ़ती हैं और इस स्थान को ढक लेती हैं। योगशास्त्र का कथन है कि ब्रह्मसत्ता का, ब्रह्मांडीय चेतना का, मानव शरीर में प्रवेश इसी मार्ग से होता है।

शरीर-रचना की दृष्टि से इस स्थल पर केवल हड्डियों का जोड़ ही नहीं होता। उसी सीध में नीचे अन्य संगतियाँ भी बैठती हैं। कपाल को हड्डियों के नीचे मस्तिष्क को आच्छादित किए हुए एक ब्राह्यक (सैरिब्रल कॉर्टेक्स) होते हैं। इसमें खेत में हल चलाने से बने हुए चिह्न जैसे होते हैं, जो उसे विभिन्न भागों में विभाजित

करते हैं। इन्हें सीता (सल्कस) कहते हैं। ब्राह्मक (कॉर्टेक्स) को लंबाई में बीच से विभाजित करने वाली धार के लांबिक सीता (लॉन्जिट्यूडिनल फिसर) तथा चौड़ाई में बीच से विभाजित करने वाली को केंद्रीय सीता (सेंट्रल सल्कस) कहते हैं। इन दोनों जोड़ों का केंद्र (क्रासिंग) ठीक उसी स्थल पर होता है, जहाँ ब्रह्मरंध्र कहा गया है। इसी रंध्र की सीध में मस्तिष्क की सबसे ऊपरी रहस्यमय कही जाने वाली शीर्ष ग्रंथि (पीनियल ग्लैंड) का स्थान है।

यह ब्रह्मरंध्रकाय स्थित सत्ता को महत् चेतना से संबद्ध करने का विशिष्ट मार्ग द्वार है। योगी अंत समय में इसी मार्ग से प्राण का निष्कासन करके ब्रह्मलीन होते हैं। स्पष्ट है कि जीवन काल में यह ब्रह्मरंध्र मस्तिष्क के सहस्रारचक्र के माध्यम से दिव्य शक्तियों तथा दिव्य अनुभूतियों के आदान-प्रदान का कार्य करता है। सहस्रारचक्र और ब्रह्मरंध्र मिलकर एक संयुक्त इकाई-यूनिट के रूप में कार्य करते हैं। अतः योग-साधना में भी इन्हें संयुक्त रूप से प्रयुक्त-प्रभावित करने का विधान है।

□

मानवी सत्ता का दक्षिणी ध्रुव—मूलाधार

मानवी सत्ता के जिन दो ध्रुवकेंद्रों की चर्चा पिछले पृष्ठों में की गई है, उनमें दूसरा दक्षिणी ध्रुव है—मूलाधारचक्र, सुमेरु संस्थान सुषुम्ना केंद्र जो मल-मूत्र के स्थानों के बीचोबीच अवस्थित है, कुंडलिनी, महासर्पिणी, प्रचंड क्रियाशक्ति इसी स्थान पर सोई पड़ी है। उत्तरी ध्रुव का महासर्प अपनी सहचरी सर्पिणी के बिना और दक्षिणी ध्रुव की महासर्पिणी अपने सहचर महासर्प के बिना निरानंद मूर्च्छित जीवन व्यतीत करती है और परिणामस्वरूप विश्व की समस्त विशेषताओं का प्रतीक होते हुए भी मनुष्य तुच्छ-सा जीवनयापन करते हुए कीट-पतंगों की मौत मर जाता है, कोई महत्त्वपूर्ण उपलब्धि प्राप्त नहीं कर पाता, इसका एकमात्र कारण यही है कि हमारे पिंड के, देह के दोनों ध्रुव मूर्च्छित पड़े हैं। यदि वे सजग हो गए होते, तो ब्रह्मांड जैसी महान चेतना अपने पिंड में भी परिलक्षित होती।

मूत्र स्थान यों एक प्रकार से घृणित एवं उपेक्षित स्थान है। पर तत्त्वत: उसकी सामर्थ्य मस्तिष्क में अवस्थित ब्रह्मरंध्र जितनी ही है। वह हमारी सक्रियता का केंद्र है। यों नाक, कान आदि छिद्र भी मल विसर्जन के लिए प्रयुक्त होते हैं, पर उन्हें कोई ढकता नहीं। मूत्र यंत्र को ढकने की अनादि एवं आदिम परिपाटी के पीछे वह सतर्कता है, जिसमें यह निर्देश है कि इस संस्थान से जो अजस्र शक्ति-प्रवाह बहता है, उसकी रक्षा की जानी चाहिए। शरीर के अन्य अंग की तरह यों प्रजनन अवयव भी मांस-मज्जा मात्र से ही बने हैं, पर उनके दर्शनमात्र से मन विचलित हो उठता है। अश्लील चित्र अथवा अश्लील चिंतन जब मस्तिष्क में उथल-पुथल पैदा कर देता है, तब उन अवयवों का दर्शन यदि भावनात्मक हलचल को उच्छृंखल

बना दे तो आश्चर्य ही क्या? यहाँ यह रहस्य जान लेना ही चाहिए। मूत्र संस्थान के मूल में बैठी हुई कुंडलिनी शक्ति प्रसुप्त स्थिति में भी इतनी तीव्र है कि उसकी प्रचंड धाराएँ खुली प्रवाहित नहीं रहने दी जा सकती हैं। उन्हें आवरण में रखने से उनका अपव्यय बचता है और अन्यों के मानसिक संतुलन को क्षति नहीं पहुँचती। छोटे बच्चों को भी कटिबंध इसीलिए पहनाते हैं। ब्रह्मचारियों को धोती के अतिरिक्त लँगोट भी बाँधे रहना पड़ता है। पहलवान भी ऐसा ही करते हैं। संन्यास और वानप्रस्थ में भी यही प्रक्रिया अपनानी पड़ती है।

ब्रह्मरंध्र, मस्तिष्क की सामर्थ्य से हम सभी परिचित हैं। पर कुंडलिनी क्रियाशक्ति के केंद्रबिंदु मूलाधार का रहस्य बहुत कम लोगों को मालूम है। उसी संस्थान का जादू है कि मनुष्य अपने समान एक नए मनुष्य को बनाकर तैयार कर देता है। इन अवयवों का पारस्परिक स्पर्श होने से नर-नारी के बीच एक असाधारण भावना प्रवाह बहने लगता है। साथी के दुश्चरित्र और अविश्वस्त होने की बात मानते हुए भी परस्पर इतना आकर्षण हो जाता है कि व्यभिचारपरायण नर-नारी भी एकदूसरे के लिए सभी मर्यादाएँ तोड़कर रोग, कलंक, पाप, परिवार-विग्रह एवं धन-हानि की क्षति उठाते देखे गए हैं। विशुद्ध दांपत्य जीवन जीने वाले पति-पत्नी के पारस्परिक आकर्षण का केंद्र जहाँ उनकी धर्मभावना है, वहाँ वह शारीरिक क्रिया-कलाप भी हैं, जिनके कारण कुंडलिनी बिंदुओं का स्पर्श एकदूसरे के शरीर एवं मन पर जादुई प्रभाव डालता है और एकदूसरे को अपना वशवर्ती कर लेता है।

शिवलिंग के पूजा प्रचलन में एक महान आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान का संकेत है, जिसमें व्यक्ति को सचेत किया गया है कि वह शरीर के इस अवयव में ईश्वरीय दिव्य शक्ति का अति उत्कृष्ट अंश समाविष्ट समझे और इस ब्रह्मांड को ईश्वर की क्रियाशक्ति कुंडलिनी

का प्रतीक-प्रतिनिधि माने। शिवलिंग का जलाभिषेक करने का एक तात्पर्य यह भी है कि इस शक्ति के महान आध्यात्मिक लाभों को प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि उसे शीतल रखा जाए, उद्दीप्त न होने दिया जाए। योगी-यती अपनी साधनाओं में यह तत्त्वज्ञान सँजोए ही रहते हैं कि उन्हें ब्रह्मचर्यपूर्वक रहना चाहिए, ताकि पिंड की, देह की मूलाधार क्रियाशक्ति कुंडलिनी का अपव्यय न हो और वह बहिर्मुखी होकर अस्त-व्यस्त बनने, उच्छृंखल होने की अपेक्षा लौटकर ऊर्ध्वगामी दिशा पकड़ती हुई ब्रह्मरंध्र अवस्थित महासर्प के साथ तादात्म्य होकर परमानंद-ब्रह्मानंद का लक्ष्य प्राप्त कर सके।

कुंडलिनी विज्ञान में मूलाधार को योनि और सहस्रार को लिंग कहा गया है। यह सूक्ष्म तत्त्वों की गहन चर्चा है। इस वर्णन में काम- क्रीड़ा एवं शृंगारिकता का काव्यमय वर्णन तो किया गया है, पर क्रिया प्रसंग में वैसा कुछ नहीं है। तंत्र ग्रंथों में उलटवाँसियों की तरह मद्य, मांस, मीन, मुद्रा और पाचवाँ 'मैथुन' भी साधना प्रयोजनों में सम्मिलित किया गया है। ये दो मूल सत्ताओं के संभोग का संकेत है। शारीरिक रति कर्म से इसका संबंध नहीं जोड़ा गया है। यों यह सूक्ष्म अध्यात्म सिद्धांत रति कर्म पर भी प्रयुक्त होते, दांपत्य स्थिति पर भी लागू होते हैं। दोनों के मध्य समता की, आदान-प्रदान की स्थिति जितनी ही संतुलित होगी, उतना ही युग्म को अधिक सुखी, संतुष्ट, समुन्नत पाया जाएगा।

मूलाधार में कुंडलिनी शक्ति शिवलिंग के साथ लिपटी हुई प्रसुप्त सर्पिणी की तरह पड़ी रहती है। समुन्नत स्थिति में इसी मूल स्थिति का विकास हो जाता है। मूलाधार मल-मूत्र स्थानों के निकृष्ट स्थान से ऊँचा उठकर मस्तिष्क के सर्वोच्च स्थान पर जा विराजता है। छोटा-सा शिवलिंग मस्तिष्क में कैलाश पर्वत बन जाता है।

छोटे-से कुंड को मानसरोवर रूप धारण करने का अवसर मिलता है। प्रसुप्त सर्पिणी जाग्रत होकर शिवकंठ से जा लिपटती है और शेषनाग के पराक्रमी रूप में दृष्टिगोचर होती है। मुँहबंद कली खिलती है और खिले हुए शतदल कमल के सहस्रार के रूप में उसका विकास होता है। मूलाधार में तनिक-सा स्थान था, पर ब्रह्मरंध्र का विस्तार तो उससे सौ गुना अधिक है।

सहस्रार को स्वर्गलोक का कल्पवृक्ष प्रलयकाल में बचा रहने वाला अक्षयवट-गीता का ऊर्ध्व मूल अधः शाखा वाला अश्वत्थ—भगवान बुद्ध को महान बनाने वाला बोधिवृक्ष कहा जा सकता है। ये समस्त उपमाएँ ब्रह्मरंध्र में निवास करने वाले ब्रह्मबीज की ही हैं। वह अविकसित स्थिति में मन, बुद्धि के छोटे-मोटे प्रयोजन पूरे करता है, पर जब जाग्रत स्थिति में जा पहुँचता है, तो सूर्य के समान दिव्य सत्ता संपन्न बनता है। उसके प्रभाव से व्यक्ति और उसका संपर्क-क्षेत्र दिव्य आलोक से भरा-पूरा बन जाता है।

ऊपर उठना पदार्थ और प्राणियों का धर्म है। ऊर्जा का, ऊष्मा का स्वभाव ऊपर उठना और आगे बढ़ना है। प्रगति का द्वार बंद रहे तो कुंडलिनी शक्ति कामुकता के छिद्रों से रास्ता बनाती और पतनोन्मुख रहती है। किंतु यदि ऊर्ध्व गमन का मार्ग मिल सके, तो उसका प्रभाव-परिणाम प्रयत्नकर्त्ता को परम तेजस्वी बनने और अंधकार में प्रकाश उत्पन्न कर सकने की क्षमता के रूप में दृष्टिगोचर होता है।

कुंडलिनी की प्रचंड क्षमता स्थूलशरीर में ओजस्, सूक्ष्मशरीर में तेजस् और कारणशरीर में वर्चस् के रूप में प्रकट एवं परिलक्षित होती है। समग्र तेजस्विता को इन तीन भागों से दृष्टिगोचर होते देखा जा सकता है। इस अंतःक्षमता का एक भौंड़ा-सा उभार और कार्य कामवासना के रूप में देखा जा सकता है। कामुकता अपने सहयोगी के प्रति कितना आकर्षण, आत्मभाव उत्पन्न करती है। संभोग कर्म

में सरसता अनुभव होती है। संतानोत्पादन जैसी आश्चर्यजनक उपलब्धि सामने आती है। यह एक छोटी-सी इंद्रिय है, पर इस अंत:क्षमता का आवेश छा जाने पर उसका प्रभाव कितना अद्‌भुत होता है, यह आँख पसारकर हर दिशा में देखा जा सकता है। मनुष्य का चित्त, श्रम, समय एवं उपार्जन का अधिकांश भाग इसी उभार को तृप्त करने का ताना-बाना बुनने में बीतता है। उपभोग की प्रतिक्रिया संतानोत्पादन के उत्तरदायित्व निभाने के रूप में कितनी महँगी और भारी पड़ती है, यह प्रकट तथ्य किसी से छिपा नहीं है। यदि इसी सामर्थ्य को ऊर्ध्वगामी बनाया जा सके, तो उसका प्रभाव देवोपम परिस्थितियाँ सामने लाकर खड़ी कर सकता है।

सामान्यत: जननेंद्रिय को कामवासना एवं रति प्रवृत्ति के लिए उत्तरदायी माना जाता है। पर वैज्ञानिक गहन अन्वेषण से यह तथ्य सामने आता है कि नर-नारी के प्रजनन-केंद्रों का सूत्र-संचालन मेरुदंड के सुषुम्ना-केंद्र से होता है। यह केंद्र नाभि की सीध में है। हेनरी आस्ले कृत 'नोट्स ऑन फिजियोलॉजी' ग्रंथ में इस संदर्भ में विस्तृत प्रकाश डाला गया है। उसमें उल्लेख है कि नर-नारियों के प्रजनन अंगों के संकोच एवं उत्तेजना का नियंत्रण मेरुदंड के 'लंबर रीजन' (निचले क्षेत्र) में स्थित केंद्रों से होता है। इस दृष्टि से कामोत्तेजना के प्रकटीकरण का उपकरण मात्र जननेंद्रिय रह जाती है। उसका उद्‌गम तथा उद्‌भव-केंद्र सुषुम्ना संस्थान में होने से वह कुंडलिनी की ही एक लहर सिद्ध होती है। वह प्रवाह जननेंद्रिय की ओर उच्च केंद्रों को मोड़ देने की प्रक्रिया ही इस महाशक्ति की साधना के रूप में प्रयुक्त होती है।

नेपोलियन हिल ने अपनी पुस्तक 'थिंक एंड ग्रो रिच' में कामशक्ति के संबंध में महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला है। वे सेक्स एनर्जी को मस्तिष्क और शरीर दोनों को समान रूप से प्रभावित करने वाली एक विशेष

शक्ति मानते हैं। यह मनुष्य को प्रगति की दिशा में बढ़ चलने के लिए प्रेरणा देती है।

सामान्यत: उसका उभार इंद्रिय मनोरंजन मात्र बनकर समाप्त होता रहता है। जमीन पर फैले हुए पानी की भाप भी ऐसे ही उड़ती, बिखरती और भटकती रहती है, पर यदि उसका विवेकपूर्ण उपयोग किया जा सके, तो भाप द्वारा भोजन पकाने से लेकर रेल का इंजन चलाने जैसे असंख्यों उपयोगी काम लिए जा सकते हैं। कामशक्ति के उच्चस्तरीय सृजनात्मक प्रयोजन अनेकों हैं। कलात्मक गतिविधियों में काव्य जैसी कल्पना संवेदनाओं में दया, करुणा एवं उदार आत्मीयता को साकार बनाने वाली सेवा-साधना में एकाग्र तन्मयता से संभव होने वाले शोध प्रयत्नों में प्रचंड पराक्रम के रूप में प्रकट होने वाले शौर्य, साहस में, गहन आध्यात्मिक क्षेत्र से उद्‌भूत श्रद्धा भक्ति में उसे नियोजित किया जा सकता है।

कामेच्छा एक आध्यात्मिक भूख है। वह मिटाई नहीं जा सकती। निरोध करने पर वह और भी उग्र होती है। बहते हुए पानी को रोकने से वह धक्का मारने की नई सामर्थ्य उत्पन्न करता है। आकाश में उड़ती हुई बंदूक की गोली स्वयमेव शांत होने की स्थिति तक पहुँचने से पहले जहाँ भी रोकी जाएगी, वहीं आघात लगावेगी और छेद कर देगी। कामशक्ति को बलपूर्वक रोकने से कई प्रकार के शारीरिक और मानसिक उपद्रव खड़े होते हैं। इस तथ्य पर फ्रायड से लेकर आधुनिक मनोविज्ञानियों तक ने अपने-अपने ढंग से प्रकाश डाला है और उसे सृजनात्मक प्रयोजनों में नियोजित करने का परामर्श दिया है। एक ओर से मन हटकर दूसरी ओर चला जाए। एक का महत्त्व गिराकर दूसरे की गरिमा पर विश्वास कर लिया जाए। आकांक्षा एवं अभिरुचि का प्रवाह मोड़ने में विशेष कठिनाई उत्पन्न नहीं होती। ब्रह्मचर्य का वैज्ञानिक स्वरूप यही है। अतृप्ति-

जन्य अशांति से बचने तथा क्षमता का सदुपयोग करके सत्परिणामों का लाभ लेने का एक ही उपाय है कि कामेच्छा प्रवृत्ति को सृजनात्मक दिशा में मोड़ा जाए।

कलात्मक प्रयोजनों में संलग्न होने से उसके भौतिक लाभ मिल सकते हैं। अध्यात्म क्षेत्र में उसे भाव-संवेदना के लिए 'भक्ति-भावना' के रूप में तथा प्रबल पुरुषार्थ की तरह तपोमयी योग-साधना में लगाया जा सकता है। दोनों का समन्वय कुंडलिनी जागरण प्रक्रिया में समन्वित पद्धति के रूप में किया जा सकता है। सहस्रारचक्र भक्ति भावना का और मूलाधारचक्र प्राण संधान का केंद्र है। दोनों की प्रसुप्त स्थिति को समाप्त कर साहसिक संवेदना उभारना कुंडलिनी जागरण प्रक्रिया अपनाने से सहज संभव हो सकता है।

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—ये जीवन के चार परम प्रयोजन हैं। काम का अर्थ सामान्यत: रति कर्म समझा जाता है, पर परम प्रयोजनों में उसका अर्थ विनोद, उल्लास, आनंद माना जाता है। यह रसानुभूति दो पूरक तत्त्वों के मिलन द्वारा उपलब्ध होती है। ऋण और धन विद्युत-प्रवाह मिलने से गति उत्पन्न होती है। रयि और प्राण तत्त्व के मिलन से सृष्टि के प्राणी उत्पादनों की सृष्टि होती है। प्रकृति-पुरुष की तरह नर और नारी को भी परस्पर पूरक माना गया है। मानवी सत्ता में भी दो पूरक सत्ताएँ काम करती हैं। इन्हें नर और नारी का प्रतिनिधि मानते हैं। नारी सत्ता मूलाधार में अवस्थित कुंडलिनी है और नरतत्त्व सहस्रार स्थित परब्रह्म है। इन्हीं को शक्ति और शिव भी कहते हैं। इनका मिलन ही कुंडलिनी जागरण का लक्ष्य है। इस संयोग से उत्पन्न दिव्य धारा को भौतिक क्षेत्र में ऋद्धि, सिद्धि और आत्मिक क्षेत्र में स्वर्गमुक्ति कहते हैं। आत्मसाक्षात्कार एवं ब्रह्म-निर्माण का लक्ष्य भी यही है।

अथर्ववेद में भगवान के काम रूप से जीवन में अवतरित होने की प्रार्थना की गई है—

यास्ते शिवास्तन्वः काम भद्रा याभिः सत्यं भवति यद् वृणीषे।
ताभिष्ट्वमस्माँ अभिसंविशस्वान्यत्र पापीरप वेशया धियः॥

—*अथर्ववेद* ९.२.२५

हे परमेश्वर, तेरा काम रूप भी श्रेष्ठ और कल्याणकारक है। उसका चयन असत्य नहीं है। आप काम रूप से हमारे भीतर प्रवेश करें और पाप बुद्धि से छुड़ाकर हमें निष्पाप उल्लास की ओर ले चलें।

कुंडलिनी महाशक्ति की प्रकृति का निरूपण करते हुए शास्त्रकारों ने इसके लिए 'कामबीज' एवं 'कामकला' दोनों शब्दों का प्रयोग किया है। इन शब्दों का अर्थ कामुकता, कामक्रीड़ा या कामशास्त्र जैसा तुच्छ अर्थ यहाँ नहीं लिया गया है। इस शक्ति की प्रकृति उत्साह एवं उल्लास उत्पन्न करना है। यह शरीर और मन की उभयपक्षीय अग्रगामी स्फुरणाएँ हैं। यह एक मूल प्रकृति हुई, दूसरी पूरक प्रकृति। मूलाधार को 'कामबीज' कहा गया है और सहस्रार को 'ज्ञानबीज'। दोनों के समन्वय से विवेकयुक्त क्रिया बनती है। इसी पर जीवन का सर्वतोमुखी विकास निर्भर है। कुंडलिनी-साधना से इसी सुयोग-संयोग की व्यवस्था बनाई जाती है।

प्रत्येक शरीर में नर और मादा दोनों ही तत्त्व विद्यमान हैं। शरीर शास्त्रियों के अनुसार प्रत्येक वाणी में उभयपक्षीय सत्ताएँ मौजूद हैं। इनमें से जो उभरी रहती हैं, उसी के अनुसार शरीर की लिंग प्रकृति बनती है। संकल्पपूर्वक इस प्रकृति को बदला भी जा सकता है। छोटे प्राणियों में उभयलिंगी क्षमता रहती है। वह एक ही शरीर से समयानुसार दोनों प्रकार की आवश्यकताएँ पूरी कर लेते हैं।

मनुष्यों में ऐसे कितने ही पाए जाते हैं, जिनकी आकृति जिस वर्ग की है, प्रकृति उससे भिन्न वर्ग की होती है। नर को नारी की और नारी को नर की भूमिका निभाते हुए बहुत बार देखा जाता है। इसके अतिरिक्त लिंग-परिवर्तन की घटनाएँ भी होती रहती हैं। शल्य क्रिया के विकास के साथ-साथ अब इस प्रकार के उलट-पुलट होने के समाचार संसार के कोने-कोने से मिलते रहते हैं। अमुक नर, नारी बन गया और अमुक नारी ने नर के रूप में अपना गृहस्थ नए ढंग से चलाना आरंभ कर दिया।

दोनों में एक तत्त्व प्रधान रहने से ढर्रा तो चलता रहता है, पर एकांगीपन बना रहता है। नारी की कोमलता, सहृदयता, कलाकारिता जैसे भावनात्मक तत्त्व का नर में जितना अभाव होगा, उतना ही वह कठोर, नीरस, निष्ठुर रहेगा और अपनी बलिष्ठता, मनस्विता के पक्ष के सहारे क्रूर, कर्कश बनकर अपने और दूसरों के लिए अशांति ही उत्पन्न करता रहेगा। नारी में पौरुष का अभाव रहा तो वह आत्महीनता की ग्रंथियों से ग्रसित अनावश्यक संकोच में डूबी, कठपुतली या गुड़िया बनकर रह जाएगी। आवश्यकता इस बात की है कि दोनों ही पक्षों में संतुलित मात्रा में रयि और प्राण के तत्त्व बने रहें। कोई पूर्णतः एकांगी बनकर न रह जाए। जिस प्रकार बाह्य जीवन में नर-नारी सहयोग की आवश्यकता रहती है। उसी प्रकार अंतःक्षेत्र में भी दोनों तत्त्वों का समुचित विकास होना चाहिए, तभी एक पूर्ण व्यक्तित्व का विकास संभव हो सकेगा। कुंडलिनी जागरण से उभयपक्षीय विकास की पृष्ठभूमि बनती है।

कुंडलिनी महाशक्ति को 'काम कला' कहा गया है। उसका वर्णन कतिपय स्थलों में ऐसा प्रतीत होता है मानो यह कोई सामान्य कामसेवन की चर्चा की जा रही हो। कुंडलिनी का स्थान जननेंद्रिय

मूल में रहने से भी उसकी परिणति कामशक्ति के उभार के लिए प्रयुक्त होती प्रतीत होती है।

इस तत्त्व को समझने के लिए हमें अधिक गहराई में प्रवेश करना पड़ेगा और अधिक सूक्ष्म दृष्टि से देखना पड़ेगा। नर-नारी के बीच चलने वाली 'कामक्रीड़ा' और कुंडलिनी साधना में सन्निहित 'काम कला' में भारी अंतर है। मानवीय अंतराल में उभयलिंग विद्यमान हैं। हर व्यक्ति अपने आप में आधा नर और आधा नारी है। अर्द्ध नारी-नटेश्वर भगवान शंकर को चित्रित किया गया है। कृष्ण और राधा का भी ऐसा ही एक समन्वित रूप चित्रों में दृष्टिगोचर होता है। पति-पत्नी दो शरीर एक प्राण होते हैं। यह इस चित्रण का स्थूल वर्णन है। सूक्ष्म संकेत यह है कि हर व्यक्ति के भीतर उभय-लिंग सत्ता विद्यमान है। जिसमें जो अंश अधिक होता है, उसका रुझान उसी ओर ढुलकने लगता है। उसकी चेष्टाएँ उसी तरह की बन जाती हैं। कितने ही पुरुषों में नारी जैसा स्वभाव पाया जाता है और कई नारियों में पुरुषों जैसी प्रवृत्ति, मनोवृत्ति होती है। यह प्रवृत्ति बढ़ चले, तो इसी जन्म में शारीरिक दृष्टि से भी लिंग-परिवर्तन हो सकता है। अगले जन्म में लिंग बदल सकता है अथवा संतुलन होने से नपुंसक जैसी स्थिति बन सकती है।

नारी लिंग का सूक्ष्म स्थल जननेंद्रिय मूल है। इसे योनि कहते हैं। मस्तिष्क का मध्य बिंदु ब्रह्मरंध्र—'लिंग' है। इसका प्रतीक प्रतिनिधि सुमेरु मूलाधारचक्र के योनिगह्वर में ही 'कामबीज' के रूप में अवस्थित है। अर्थात एक ही स्थान पर वे दोनों विद्यमान हैं, पर प्रसुप्त पड़े हैं। उनके जागरण को ही कुंडलिनी जागरण कहते हैं। इन दोनों के संयोग की साधना 'काम कला' कही जाती है। इसी को कुंडलिनी जागरण की भूमिका कह सकते हैं। शारीरिक कामसेवन इसी आध्यात्मिक संयोग-प्रयास की छाप है।

आंतरिक कामशक्ति को दूसरे शब्दों में महाशक्ति—महाकाली कह सकते हैं। एकाकी नर या नारी भौतिक जीवन में अस्त-व्यस्त रहते हैं। आंतरिक जीवन में उभयपक्षी विद्युत शक्ति का समन्वय न होने से सर्वत्र नीरस-नीरवता दिखाई पड़ती है। इसे दूर करके समग्र समर्थता एवं प्रफुल्लता उत्पन्न करने के लिए कुंडलिनी साधना की जाती है। इसी संदर्भ में शास्त्रों में साधना विज्ञान का जहाँ उल्लेख किया है, वहाँ कामक्रीड़ा जैसे शब्दों का प्रयोग किया गया है। वस्तुतः यह आध्यात्मिक काम कला की ही चर्चा है। योनि लिंग, कामबीज, रज, वीर्य, संयोग आदि शब्दों में उसी अंतःशक्ति के जागरण की विधि-व्यवस्था सन्निहित है—

स्वयंभूलिंगं तन्मध्ये सरन्ध्रं पश्चिमाननम्।
ध्यायेच्च परमेशानि शिवं श्यामलसुंदरम्॥

—शाक्तानंद तरंगिणी (४/३४)

उसके मध्य रंध्र सहित महालिंग है। वह स्वयंभू और अधोमुख, श्यामल और सुंदर है। उसका ध्यान करें।

तत्रस्थितो महालिंग स्वयंभुः सर्वदा सुखी।
अधोमुखः क्रियावांक्ष्य कामबीजे न चालितः॥

—काली कुलामृत

वहाँ ब्रह्मरंध्र में वह महालिंग अवस्थित है। वह स्वयंभू और सुख स्वरूप है। इसका मुख नीचे की ओर है। यह निरंतर क्रियाशील है। कामबीज द्वारा चालित है।

आत्मसंस्थं शिवं त्यक्त्वा बहिःस्थं य समर्चयेत्।
हस्तस्थं पिण्डमुत्सृज्य भ्रमते जीविताशया॥
आत्मलिंगार्चनं कुर्यादनालस्यं दिने दिने।
तस्य स्यात्सकला सिद्धिर्नात्र कार्या विचारणा।

—शिव संहिता

अपने शरीर में अवस्थित शिव को त्यागकर जो बाहर-बाहर पूजते फिरते हैं। वे हाथ के भोजन को छोड़कर इधर-उधर से प्राप्त करने के लिए भटकने वाले लोगों में से हैं।

आलस्य त्यागकर 'आत्मलिंग' शिव की पूजा करें। इसी से समस्त सफलताएँ मिलती हैं।

नमो महाबिंदुमुखी चंद्र सूर्य स्तन द्वया।
सुमेरुद्वार्ध कलया शोभमाना मही पदा॥
काम राज कला रूपा जागर्ति स चराचरा।
एतत काम कला व्याप्तं गुह्याद् गुह्यतरं महत्॥

—रुद्रयामल तंत्र

महाबिंदु उसका मुख है। सूर्य-चंद्र दोनों स्तन हैं, सुमेरु उसकी अर्द्ध कला है, पृथ्वी उसकी शोभा है। चर-अचर में, सबमें काम कला के रूप में जगती है। सबमें काम कला होकर व्याप्त है। यह गुह्य से भी गुह्य है।

जननेंद्रिय मूल—मूलाधारचक्र में योनि स्थान बताया गया है।

मूलाधारे हि यत् पद्मं चतुष्पत्रं व्यवस्थितम्।
तत्र कन्देऽस्ति या योनिस्तस्यां सूर्यो व्यवस्थितः॥

—शिव संहिता ५.१३४

चार पंखुड़ियों वाले मूलाधारचक्र के कंद भाग में जो प्रकाशवान योनि है।

तस्मिन्नाधारपद्मे च कर्णिकायां सुशोभना।
त्रिकोणा वर्तते योनिः सर्वतंत्रेषु गोपिका॥

—शिव संहिता २/ २२

उस आधार पद्म की कर्णिका में अर्थात दंडी में त्रिकोण योनि है। यह योनि सब तंत्रों में गोपित है।

यत्तद्गुह्यमिति प्रोक्तं देवयोनिस्तु सोच्यते।
अस्यां यो जायते वह्निः स कल्याणप्रदुच्यते॥

—कात्यायन स्मृति ७/११

यह गुह्य नामक स्थान देव योनि है। उसी में जो वह्नि उत्पन्न होती है, वह परम कल्याणकारिणी है।

आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम्।
योनिस्थानं द्वयोर्मध्ये कामरूपं निगद्यते॥

—गोरक्षपद्धति १७

पहले मूलाधार एवं दूसरे स्वाधिष्ठानचक्र के बीच में योनि स्थान है, यही काम रूप पीठ है।

आधाराख्ये गुदस्थाने पंकजं च चतुर्दलम्।
तन्मध्ये प्रोच्यते योनिः कामाख्या सिद्धवंदिता॥

—गोरक्षपद्धति १८

गुदा स्थान में जो चतुर्दल कमल विख्यात है, उसके मध्य में त्रिकोणाकार योनि है जिसकी वंदना समस्त सिद्धजन करते हैं, पंचाशत वर्ण से बनी हुई कामाख्या पीठ कहलाती है।

यत्समाधौ परं ज्योतिरनन्तं विश्वतोमुखम्।
तस्मिन् दृष्टे महायोगे यातायातान्न विन्दते॥

—गोरक्षपद्धति २१

इसी त्रिकोण विष समाधि में अनंत विश्व में व्याप्त होने वाली परम ज्योति प्रकट होती है, वही कालाग्नि रूप है। जब योगी ध्यान-धारणा समाधि द्वारा उक्त ज्योति देखने लगता है, तब उसका जन्म-मरण नहीं होता।

इन दोनों का परस्पर अति घनिष्ठ संबंध है। वह संबंध जब मिला रहता है, तो आत्मबल समुन्नत होता चला जाता है और आत्मशक्ति सिद्धियों के रूप में विकसित होती चलती है। जब उनका संबंध विच्छेद हो जाता है, तो मनुष्य दीन-दुर्बल, असहाय,

असमर्थ एवं असफल जीवन जीता है। कुंडलिनी रूपी योनि और सहस्त्रार रूपी लिंग का संयोग मनुष्य की आंतरिक अपूर्णता को पूर्ण करता है। साधना का उद्देश्य इसी महान प्रयोजन की पूर्ति करता है। इसी को शिवशक्ति का संयोग तथा आत्मा से परमात्मा का मिलन कहते हैं। इस संयोग का वर्णन साधना-क्षेत्र में इस प्रकार किया गया है।

भगः शक्तिर्भगवान्काम ईश उभा दातारावि‌ह सौभगानाम्।
समप्रधानौ समसत्त्वौ समोजौ तयोः शक्तिरजरा विश्वयोनिः॥

—त्रिपुरोपनिषद् १४

भग शक्ति है। काम रूप ईश्वर भगवान है। दोनों सौभाग्य देने वाले हैं। दोनों की प्रधानता समान है। दोनों की सत्ता समान है। दोनों समान ओजस्वी हैं। उनकी अजरा शक्ति विश्व का निमित्त कारण है।

कामबीज और ज्ञानबीज के मिलने से जो आनंदमयी परम कल्याणकारी भूमिका बनती है उसमें मूलाधार और सहस्त्रार का मिलन-संयोग ही आधार माना गया है। इसी मिलाप को साधना की सिद्धि कहा गया है। इस स्थिति को दिव्य मैथुन की संज्ञा भी दी गई है।

सहस्त्रारोपरिबिन्दौ कुण्डल्या मेलनं शिवे।
मैथुनं शयनं दिव्यं यतीनां परिकीर्तितम्॥

—योगिनी तंत्र पृ० ७४/४१

पार्वती, सहस्त्रार में जो कुल और कुंडलिनी का मिलन होता है, उसी को यतियों ने दिव्य मैथुन कहा है।

पर शक्त्यात्म मिथुन संयोगानंद निर्गराः।
मुक्तात्म मिथुनंतत् स्त्यादितर स्त्री निवेषकः॥

—तंत्रसार

आत्मा को—परमात्मा को प्रगाढ़ आलिंगन में आबद्ध करके परम रस का आस्वादन करना यही यतियों का मैथुन है।

सुषुम्नाशक्ति सुदृष्टा जीवोऽयं तु परः शिवः।
तयोस्तु संगमे देवैः सुरतं नाम कीर्तितम्॥

—तंत्रसार

सुषुम्ना शक्ति और ब्रह्मरंध्र शिव है। दोनों के समागम को मैथुन कहते हैं।

यह संयोग आत्मा और परमात्मा के मिलन एकाकार की स्थिति भी उत्पन्न करता है। जीव को योनि और ब्रह्म को वीर्य की संज्ञा देकर उनका संयोग भी परमानंददायक कहा गया है—

एष बीजी भवान् बीजमहं योनिः सनातनः।

—वायु पुराण (२४/६६)

जीव ने ब्रह्म से कहा आप बीज हैं। मैं योनि हूँ। यही क्रम सनातन से चला आ रहा है।

शिव और शक्ति के संयोग का रूपक भी इस संदर्भ में दिया जाता है। शक्ति को रज और शिव को बिंदु की उपमा दी गई है। दोनों के मिलन के महत्त्वपूर्ण सत्परिणाम बताए गए हैं।

बिन्दुः शिवो रजः शक्तिश्चंद्रो बिंदु रजो रविः।
अनयोः संगमादेव प्राप्यते परमं पद्म॥

—गोरक्षपद्धति

बिंदु शिव और रज शक्ति। यही सूर्य, चंद्र है। इनका संयोग होने पर परमपद प्राप्त होता है।

बिन्दुः शिवो रजः शक्तिरुभयोर्मिलनात् स्वयम्।

—शिव संहिता १। १००

बिंदु शिव रूप और रज शक्ति रूप है। दोनों का मिलन स्वयं महाशक्ति का सृजन है।

योनि वेदी उमादेवी लिंग पीठ महेश्वर।

—लिंग पुराण

योनि वेदी उमा है और लिंग पीठ महेश्वर।

जातवेदाः स्वयं रुद्रः स्वाहा शर्वार्धकायिनी।
पुरुषाख्यो मनुः शंभुः शतरूपा शिवप्रिया॥

—लिंग पुराण(२/११/८,१३)

जातवेदाग्नि स्वयं रुद्र है और स्वाहा वे महाशक्ति हैं। उत्पादक परमपुरुष शिव ही मनु हैं और श्रेष्ठ उत्पादनकर्त्री शतरूपा शिवा हैं।

अहं बिन्दू रजः शक्तिरुभयोर्मेलनं यदा।
योगिनां साधनावस्था भवेद्दिव्यं वपुस्तदा॥

—शिव संहिता ४।८७

शिवरूपी बिंदु शक्ति रूपी रज इन दोनों का मिलन होने से योग-साधक को दिव्यता प्राप्त होती है।

ब्रह्म का प्रत्यक्ष रूप प्रकृति और अप्रत्यक्ष भाग पुरुष है। दोनों के मिलने से ही द्वैत का अद्वैत में विलय होता है। शरीरगत दो चेतन धाराएँ रयि और प्राण कहलाती हैं। इनके मिलन-संयोग से सामान्य प्राणियों को उस विषयानंद की प्राप्ति होती है जिसे प्रत्यक्ष जगत की सर्वोपरि सुखद अनुभूति कहा जाता है। ऋण और धन विद्युत घटकों के मिलन से चिनगारियाँ निकलती और शक्ति धारा बहती है। पूरक घटकों की दूरी समाप्त होने पर सरसता और सफलता की अनुभूति प्रायः होती रहती है। चेतना के उच्चस्तरीय घटक मूलाधार और सहस्रार के रूप में विलग पड़े रहें, तभी तक अंधकार की नीरस गतिहीनता की स्थिति रहेगी। मिलन का प्रतिफल संपदाओं और विभूतियों के ऋद्धि और सिद्धि के रूप में सहज ही देखा जा सकता है। इन उपलब्धियों की अनुभूति में आत्मा-परमात्मा का मिलन होता है और उसकी संवेदना ब्रह्मानंद के रूप में होती है, इस आनंद को विषयानंद से असंख्य गुने उच्चस्तर का माना गया है।

शिव-पार्वती विवाह का प्रतिफल दो पुत्रों के रूप में उपस्थित हुआ था। एक का नाम गणेश, दूसरे का कार्तिकेय। गणेश को 'प्रज्ञा' का देवता माना गया है और स्कंद को शक्ति का। दुर्दांत, दस्यु, असुरों को निरस्त करने के लिए कार्तिकेय का अवतरण हुआ था। उनके इस पराक्रम ने संत्रस्त देव समाज का परित्राण किया। गणेश ने मांस-पिंड मनुष्य को सद्ज्ञान, अनुदान देकर उसे सृष्टि का मुकुटमणि बनाया। दोनों ब्रह्मकुमार शिवशक्ति के समन्वय के प्रतिफल हैं। शक्ति कुंडलिनी शिव सहस्रार दोनों का संयोग कुंडलिनी जागरण कहलाता है। यह पुण्य-प्रक्रिया संपन्न होने पर अंतरंग ऋतंभरा प्रज्ञा से और बहिरंग प्रखरता से भर जाता है। प्रगति के पथ पर इन्हीं दो चरणों के सहारे जीवनयात्रा पूरी होती है और चरम लक्ष्य की पूर्ति संभव बनती है।

गणेश जन्म के समय शिवजी ने उनका परिचय पार्वती को कराया और उसे उन्हीं हाथों में सौंप दिया। इसका विवरण वामन पुराण में इस प्रकार आया है—

यस्माज्जातस्ततो नाम्ना भविष्यति विनायकः।
एष विघ्नसहस्राणि देवादीनां हनिष्यति॥
पूजयिष्यन्ति देवाश्च देवि लोकाश्चराचराः।
इत्येवमुक्त्वा देव्यास्तु दत्तवांस्तनयः स हि॥

—वामन पुराण

इस पुत्र ज्ञान पुत्र का नाम विनायक गणेश ही होगा। यह देवों के सहस्रों विघ्नों का हनन करेगा। हे देवि! सब चर-अचर, लोक और देवगण इसकी पूजा करेंगे। इतना कहकर शिव ने वह पुत्र देवी को दे दिया था।

स्कन्दोथवदनाद्वह्नेःशुभ्रात्षड्वदनोरिहा ।
निश्चक्रामाद्भुतोबालो रोगशोकविनाशनः॥

—पद्मपुराण

तब छह मुख वाले कुमार स्कंद उत्पन्न हुए। वे अद्‌भुत और शोक-संताप विनाशक थे।

आद्य शंकराचार्य कृत 'सौंदर्य लहरी' में षटचक्रों एवं सातवें सहस्त्रार का वर्णन है और उस परिकर को कुंडलिनी क्षेत्र बताया है। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत और विशुद्ध चक्रों को पाँच तत्त्वों का प्रतीक माना है और आज्ञाचक्र तथा सहस्त्रार को ब्रह्मचेतना का प्रतिनिधि बताया है। पाँच तत्त्वों का वेधन करने पर किस प्रकार कुंडलिनी शक्ति की पहुँच ब्रह्मलोक तक होती है और परंब्रह्म के साथ 'विहार' करती है, इसका वर्णन ९वें श्लोक में इस प्रकार है—

महीं मूलाधारे कमपि मणिपूरे हुतवहं,
स्थितं स्वाधिष्ठाने हृदि मरुतमाकाशमुपरि।
मनोऽपि भ्रूमध्ये सकलमपि भित्वा कुलपथं,
सहस्त्रारे पद्मे सह रहसि पत्या विहरसि॥

हे कुंडलिनी, तुम मूलाधार में पृथ्वी को, स्वाधिष्ठान में अग्नि को, मणिपूर में जल को अनाहत में वायु को विशुद्ध में आकाश को वेधन करती हुई आज्ञाचक्र में मन को प्रकाश देती हो तदुपरांत सहस्त्रार कमल में परंब्रह्म के साथ विहार करती हो।

अवाप्य स्वां भूमिं, भुजगनिभमध्युष्टवलयं ।
स्वमात्मानं कृत्वा, स्वपिषि कुलकुण्डे कुहरिणि॥

—सौंदर्य लहरी १०

सर्पिणी की तरह कुंडली मारकर तुम्हीं मूलाधारचक्र के 'कुलकुंड' में शयन करती हो।

अविद्यानामन्तस्तिमिरमिहिरद्वीपनकरी
जडानां चैतन्यस्तबकमकरंदस्रु तिझरी
दरिद्राणां चिंतामणिगुणनिका जन्मजलधौ
निमग्नानां दंष्ट्रा मुररिपुवराहस्य भवति॥

—सौंदर्य लहरी ३

अज्ञानियों के अंधकार का नाश करने के लिए तुम सूर्य रूप हो, तुम्हीं बुद्धि हीनों में चैतन्यता का अमृत बहाने वाली निर्झरिणी हो, तुम दरिद्री के लिए चिंतामणि माला और भवसागर में डूबने वालों को सहारा देने वाली नाव हो, दुष्टों के संहार करने में तुम वाराह भगवान के पैने दाँतों जैसी हो।

सौंदर्य लहरी के ३६ से ४१वें श्लोकों में षटचक्रों के जागरण और कुंडलिनी उत्थान की प्रतिक्रिया का वर्णन है। इन श्लोकों में कहा गया है कि मूलाधार में 'विश्व वैभव-स्वाधिष्ठान' में 'शांति- शीतलता' मणिपूर में 'अमृत वर्षा,' अनाहत में 'ऋतंभरा प्रज्ञा और अठारहों विद्या' विशुद्ध में आनंददायिनी दिव्य ज्योति की सिद्धियाँ भरी हैं। आज्ञाचक्र में शिवत्व और सहस्रार में महामिलन का संकेत है। इन उपलब्धियों का समन्वय इतना महान है, जिसे ऋषित्व एवं देवत्व भी कहा जा सकता है। अपूर्णता से आगे चलकर पूर्णता प्राप्त कर सकना इसी मार्ग का आश्रय लेने से संभव होने की बात इन श्लोकों में कही गई है।

कुंडलिनी महाशक्ति के अनुग्रह से स्वयं आद्य शंकराचार्य किस प्रकार सामान्य द्रविड़ बालक से महामानव बन सके, इसका उल्लेख करते हुए उन्होंने स्वानुभूति इस प्रकार व्यक्त की है—

तव स्तन्यं मन्ये धरणिधरकन्ये हृदयतः
पयः पारावारः परिवहति सारस्वतमिव।
दयावत्या दत्तं द्रविडशिशुरास्वाद्य तव यत्
कवीनां प्रौढानामजनि कमनीयः कवयिता॥

—सौंदर्य लहरी ७५

तेरे स्तनों से बहने वाले ज्ञानामृतरूपी पयपान करके यह द्रविड़ शिशु (शंकराचार्य) प्रौढ़ कवियों जैसी कमनीय काव्य रचना में समर्थ हो गया। □

कुंडलिनी साधना—स्वरूप और उद्देश्य

मस्तिष्क की तीक्ष्णता, बौद्धिक प्रखरता के माध्यम से प्राप्त होने वाली उपलब्धियों से सभी परिचित हैं। बुद्धिमान और सुशिक्षित व्यक्ति हर क्षेत्र में सफलता प्राप्त करते हैं। इस तथ्य से परिचित होने के कारण ही लोग शिक्षा-साधना में मुक्त हस्त से धन और समय लगाते हैं। भारतीय ऋषियों और योगियों ने इस प्रखरता, तेजस्विता का केंद्र ब्रह्मरंध्र बताया है। उसे मस्तिष्क का नाभिक-न्यूक्लियस भी कहा जा सकता है। इसके सहारे न केवल मस्तिष्क का स्तर प्रभावित होता है, वरन सूक्ष्मजगत के साथ भी वैसे ही आदान-प्रदान का द्वार खुलता है जैसा कि पृथ्वी का सूर्य एवं अन्यान्य ग्रह-नक्षत्रों के साथ चलता है।

मानवी काया की धुरी ब्रह्मरंध्र स्थित सहस्रारचक्र को बताया जाता है। यह केंद्र न केवल अपने क्षेत्र मस्तिष्क को प्रभावित करता है, वरन उसके स्तर का भी निर्धारण करता है साथ ही ब्रह्मांडीय चेतना के साथ संपर्क बनाकर आदान-प्रदान का पथ प्रशस्त करता है। भौतिक ऋद्धियाँ और आत्मिक सिद्धियाँ जाग्रत् सहस्रार के सहारे निखिल ब्रह्मांड से आकर्षित की जा सकती हैं। वृक्ष अपने चुंबकत्व से वर्षा को आकर्षित करते हैं। धातु खदानें अपने चुंबकत्व से सजातीय धातु कणों को खींचती और जमा करती रहती हैं। सहस्रार में जैसा भी चुंबकत्व हो, उसी स्तर का अदृश्य विश्व-वैभव खिंचता और एकत्रित होता रहता है। यही जीवन का अदृश्य उपार्जन उसके स्तर तथा व्यक्तित्व के स्वरूप की पूँजी-संपत्ति बनती तथा उसके व्यक्तित्व का नियमन-निर्धारण करती है। चेतन और अचेतन मस्तिष्कों द्वारा जो इंद्रियगम्य और अतींद्रिय ज्ञान उपलब्ध होता है, उसका केंद्र

यही संस्थान है। ध्यान से लेकर भक्तियोग तक की समस्त आध्यात्मिक साधनाएँ यहीं से फलित और विकसित होती हैं। ओजस्, तेजस् और ब्रह्मवर्चस् के रूप में पराक्रम, विवेक एवं आत्मबल की उपलब्धियों का अभिवर्द्धन यहीं से उभरता है।

दूसरा महत्त्वपूर्ण केंद्र दक्षिणी ध्रुव के समतुल्य जननेंद्रिय मूल में अवस्थित 'कामबीज' है। इसी को साधनाशास्त्र में मूलाधारचक्र कहा गया है। इसकी उपयोगिता और गरिमा अपने स्तर की है। मस्तिष्क ज्ञान का और कामबीज सामर्थ्य का उद्गम है। आत्मिक बल ऊपर है और भौतिक बल नीचे। भावनाएँ, विचारणाएँ, आस्थाएँ, ऊपर से उतरती हैं और पराक्रम, उत्साह, उल्लास नीचे से उभरता है। ऊर्ध्वकेंद्र को ब्रह्म का, अधःकेंद्र को प्रकृति का संपर्क द्वार कह सकते हैं। अपने-अपने स्तर के आदान-प्रदान इन्हीं केंद्रों से संभव होते हैं।

ऊर्ध्वक्षेत्र ग्रहण करता है और अधःक्षेत्र विसर्जन। शिरो भाग में मुख है, जिससे अन्न, जल ग्रहण किया जाता है। नाक है, जिससे साँस ग्रहण की जाती है। कान सुनते और नेत्र देखते हैं। इनसे मस्तिष्क की ज्ञान-संपदा बढ़ती है। यह सिर भाग ग्रहणकर्त्ता होने के कारण उत्तरी ध्रुव है, उसकी धुरी सहस्रार में है।

अधःक्षेत्र से विसर्जन होते प्रत्यक्ष देखा जाता है। मल, मूत्र, वीर्य का क्षरण इसी क्षेत्र से होता है। कामुकता यहीं से उठती है और मस्तिष्क की सरसता का प्रलोभन देकर अपने चंगुल में जकड़े रहती है। विवाह, संतान का ताना-बाना इसके चरखे-करघे पर तैयार होता है। इन्हीं दो प्रयोजनों में जीवन-संपदा का अधिकांश भाग खरच हो जाता है। दक्षिणी ध्रुव से विसर्जन प्रक्रिया कामकेंद्र द्वारा किस प्रकार होती है, यह प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। ओजस् का दिव्य उत्पादन शरीर में होता है, उसे क्रमशः अधिक सूक्ष्म और

विकसित करते रहा जाए, तो मानसिक तेजस् और आत्मिक वर्चस् की अभिवृद्धि करते-करते मनुष्य प्रचंड पराक्रमी हो सकता है, पर वे सभी दिव्य विभूतियाँ इसी काम-क्षेत्र के उभारों में होकर अस्त-व्यस्त हो जाती हैं। शारीरिक और मानसिक ब्रह्मचर्य साधने और इस संचय को कलात्मक एवं भावनात्मक दिव्य प्रयोजनों में लगाकर मनुष्य क्या नहीं बन सकता? किंतु क्षरण के कारण तो वह खोखला ही बनता जाता है। सामान्य निर्वाह तक में कभी कठिनाई पड़ती है, तब महत्त्वपूर्ण प्रगति के लिए साधन-सामग्री कैसे जुटे?

कामकेंद्र का यह एक अद्‌भुत चमत्कार है कि वहाँ से नए मनुष्य का जन्म-अवतरण संभव होता है। प्राणियों का उत्पादक परमात्मा है, पर जब जीव को अपने ही समतुल्य नया जीव बनाते देखा जाता है, तो जी चाहता है कि उसे भी स्रष्टा कहा जाए? अपने शरीर में से अपने जैसे नए-नए शरीर बनाकर खड़े करते जाना अनोखे किस्म का जादू है। जादूगर अपनी झोली, हथेली, मुख आदि से अन्य वस्तुएँ तो निकालते हैं, पर अपने जैसा मनुष्य निकाल सकना उनमें से किसी के लिए भी संभव नहीं हो सका। यह जादू मनुष्य काया में स्थित कामकेंद्र का ही है, जो ऐसा अद्‌भुत उत्पादन संभव बना देता है।

कामकेंद्र मात्र रति प्रेरणा ही नहीं उभारता। उसमें कला सौंदर्य, उत्साह, उल्लास, साहस जैसी अनेक सृजन-संवेदनाएँ उफनती रहती हैं। 'नपुंसक' शब्द एक प्रकार की गाली माना जाता है। ऐसे व्यक्ति राजकीय सेवा में स्वास्थ्य की दृष्टि से 'अनफिट' कर दिए जाते हैं। सेना, पुलिस जैसे साहसिक कार्यों में उनको प्रवेश नहीं मिलता। श्राद्ध और यज्ञ का संचालन करने में नपुंसक आचार्यों को बहिष्कृत ठहराया गया है। गीता में कृष्ण ने अर्जुन को 'क्लीव' कहकर प्रकारांतर से गाली ही दी थी। अध्यात्म-क्षेत्र की नपुंसकता,

नीरसता, निराशा, निष्क्रियता के रूप में दृष्टिगोचर होती है। इन प्रवृत्तियों में उभार या उतार की स्थिति बनने के लिए कामकेंद्र की स्थिति को उत्तरदायी माना गया है। संतानोत्पादन से लेकर सृजनात्मक क्षमताओं तक संबंध इसी केंद्र से जुड़ता है। ऐसे-ऐसे अनेकों तथ्य मिलकर यह सिद्ध करते हैं कि भौतिकी क्षमताओं और सफलताओं की दृष्टि से कामसंस्थान का, मूलाधारचक्र का कितना महत्त्व है? जीव विकास विज्ञानियों ने तो प्रगति-प्रेरणाओं को मनोविज्ञान के क्षेत्र में 'सेक्स' संज्ञक कहा गया है।

कामबीज का प्रतीक मूलाधार और ज्ञानबीज का प्रतिनिधि सहस्रारचक्र है। इन्हें मानवी सत्ता के दो अति महत्त्वपूर्ण शक्ति केंद्र कहा जा सकता है। यहाँ एक बात विशेष रूप से स्मरणीय है कि इन्हें शरीरशास्त्र के अनुसार कोई प्रत्यक्ष अवयव नहीं मानना चाहिए। यह सभी सूक्ष्मशरीर में रहने वाली सत्ताएँ हैं। स्थूलशरीर में सूक्ष्म शरीर से मिलते-जुलते अवयव पाए जाते हैं और उनके सहारे स्थूल एवं सूक्ष्मशरीरों के बीच आदान-प्रदान भी होते रहते हैं। इतने पर भी दोनों के अस्तित्व एकदूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। रक्त-संचार की थैली भी हृदय है और सहृदयता एवं हृदयहीनता के रूप में विद्यमान अंतरात्मा भी हृदय कहलाती है। हृदय-गुफा में ध्यान करने के लिए कहा गया है। यह 'हृदय' रक्तशोधक थैली नहीं, वरन सूक्ष्मशरीर में अवस्थित विशिष्ट चेतना केंद्र है। ठीक इसी प्रकार मूलाधार एवं सहस्रार को प्रत्यक्ष शरीर का कोई अवयव विशेष नहीं मानना चाहिए। हाँ, उनसे मिलते-जुलते अवयवों का अस्तित्व किसी ओंधे-तिरछे रूप में अवश्य पाया जा सकता है। उनका इतना ही महत्त्व है कि उन्हें झकझोरने से अधिष्ठात्री सूक्ष्मशक्ति को किसी कदर प्रभावित किया जा सकता है। साधना-प्रयोजनों में इन अवयवों से भी कुछ-न-कुछ काम लिया जाता है। प्रगति-पथ प्रशस्त होने में इससे सहायता भी मिलती है।

कुंडलिनी जागरण में मूलाधार और सहस्रार में अवस्थित भौतिक एवं आत्मिक शक्तियों के पारस्परिक शिथिल संबंध को सघन बनाया जाता है। दोनों के बीच आदान-प्रदान की गति तीव्र की जाती है। इन दोनों सरोवरों के बीच का संबद्ध मार्ग है—मेरुदंड। इसी को महामार्ग कहा गया है। महाप्रयाण की, ऊर्ध्वगमन की देवयान प्रक्रिया यही है। पांडवों के स्वर्गारोहण को इसी प्रयास का अलंकारिक कथा प्रसंग कहना चाहिए।

कुंडलिनीयोग को भौतिक और आत्मिक प्रखरता प्राप्त करने की समर्थ साधना माना जाता है। पृथ्वी, मूलाधार स्थित शरीरगत शक्ति, सूर्य, ब्रह्मरंध्र स्थित सहस्रदल कमल, इन दोनों के परस्पर सुयोग सम्मिलन का नाम ही कुंडलिनी जागरण है। मूलाधार और सहस्रार के बीच पाँच और दूसरे चक्र हैं। कुंडलिनी शक्ति जो मूलाधार केंद्र में अवस्थित रहती है। इन पाँचों चक्रों का बंधन करती हुई सहस्रार से जा मिलती है और फिर वे सभी परिणाम ऋद्धि-सिद्धियाँ, वैभव-ऐश्वर्य आ प्रस्तुत होते हैं, जो कुंडलिनी जागरण की सफलता समझे जाते हैं।

मूलाधार केंद्र में अवस्थित कुंडलिनी शक्ति को जाग्रत करने के लिए यों विविधविध साधनात्मक क्रिया-कलाप अपनाए जाते हैं। कर्मकांडों के साधनात्मक उपचारों के आधार पर साधकगण छहों चक्रों का वेधन कर कुंडलिनी शक्ति को सहस्रारचक्र तक पहुँचाने का प्रयत्न करते हैं और इसके लिए प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि आदि का सहारा लेते हैं। इन साधन प्रयोगों में मूलतः संकल्प शक्ति का ही उपयोग किया जाता है और प्रखर संकल्पबल के आधार पर मानवी काया में अवस्थित सप्तचक्रों के माध्यम से वे समस्त सिद्धियाँ हस्तगत की जाती हैं, जिनका उल्लेख योगशास्त्रों में मिलता है।

मानवी संकल्प शक्ति की क्षमता असीम है। उसको जाग्रत करना और सदुद्देश्य के लिए प्रयुक्त कर सकना संभव हो सके, तो कुछ भी बन सकना और कुछ भी कर सकना संभव हो सकता है।

फलं ददाति कालेन तस्य तस्य तथा तथा
तपो वा देवता वापि भूत्वा स्वैव चिदन्यथा
फलं ददात्यथ स्वैरं नभःफलनिपातवत्॥

—योगवासिष्ठ ३/४६/१९

"जीव अपनी इच्छा से ही देवता, तपस्वी बनता रहता है। प्रगति और अवनति का आधार मनुष्य का अपना कर्तृत्व ही है।"

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे
सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्॥

—यजुर्वेद ३४. ५५

शरीर में सात ऋषि निवास करते हैं। वे सतर्कतापूर्वक उसकी निरंतर रक्षा करते हैं।

इस तथ्य की ओर बहुत कम लोग ध्यान देते हैं कि समस्त संपदाओं और विभूतियों का केंद्र मनुष्य के अपने ही भीतर निहित है। शरीर के बाहर की ओर बनी इंद्रियाँ बाहर का तो बहुत कुछ देखती हैं, पर आंतरिक संपदा को समझने उसका सदुपयोग करने से वंचित ही रह जाती हैं। हमारी बुद्धि बाहरी समस्याओं को सुलझाने में तो लगती रहती है, किंतु जीवन के स्वरूप, लक्ष्य एवं उपयोग को जानने में असमर्थ रहती है।

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भू-
स्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष -
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥

—कठोपनिषद् २।१।१

विधाता ने छेदों को बाहर की ओर छेदा (अर्थात् इंद्रियों को बहिर्मुखी बनाया) अतएव मनुष्य बाहर ही देखता है। अंदर को नहीं देखता। अमृत की आकांक्षा करने वाला दूरदर्शी विरला मनुष्य ही अंदर की ओर देखता है।

गायत्री की उच्चस्तरीय साधना में सप्त चक्रों का जागरण प्रमुख है। यह सप्त चक्र और पंचकोश परस्पर संबद्ध है। दोनों की साधना एक साथ ही संपन्न होती है। इसी में देव-साधना, ऋषि-उपासना, समग्र उत्कर्ष, जीवन-लक्ष्य, सर्वतोमुखी विकास-उल्लास के समस्त तत्वों का समावेश है। कहा गया है—

मूलादि ब्रह्म रंध्रान्ता गीयते मननात् यतः।
मननात् त्राति षट्चक्रं गायत्री तेन कथ्यते॥

—तंत्र कौमुदी

मूलाधार से लेकर ब्रह्मरंध्र तक विस्तृत षटचक्र का जिसके अवगाहन से जागरण होता है। उसे गायत्री कहते हैं।

आत्मसत्ता में सन्निहित विश्व की समस्त विभूतियों को यदि खोजा और जगाया जा सके, तो जीवात्मा को देवात्मा एवं परमात्मा बनने का अवसर मिल सकता है। इस अन्वेषण प्रयास को ब्रह्म-विद्या और जागरण प्रक्रिया को ब्रह्मतेज संपादन कहते हैं। इस संदर्भ में सप्त ऋषियों को जीवंत करने और उनके ब्रह्मबल से उच्च कोटि का लाभ उठाने की प्रक्रिया 'चक्रवेधन' के रूप में समझी जा सकती है।

चक्रवेधन के लिए किए जाने वाले क्रिया-कलाप यदि क्रियाकृत्य तक ही सीमित रहे, उनमें संकल्प शक्ति का कोई पुट न दिया जाए तो इतने मात्र से काम नहीं चलेगा। उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए संकल्प शक्ति के उपयोग एवं प्रयोग के साथ-साथ भावनात्मक स्तर पर भी अनुकूलता एवं अनुरूपता विनिर्मित करनी पड़ेगी। पृथ्वी

अर्थात भौतिक संपदा-अहंता, सूर्य अर्थात आत्मिक सत्ता-ब्रह्मचेतना इन दोनों को जो जितना जोड़ सकता है, उसे कुंडलिनी जागरण के साथ जुड़ी हुई विभूतियाँ मिलती हैं। स्वार्थ को परमार्थ में जोड़ने का, शारीरिक वासनाओं को आत्मिक उल्लासों में घुला देने का नाम ही आत्मसमर्पण है। इसी को साधना-क्षेत्र में पृथ्वी और सूर्य का संयोग कहते हैं। कुंडलिनी साधना इसी केंद्रबिंदु पर पहुँचने की चेष्टा को कह सकते हैं।

अशक्तता और संकीर्णता एक ही तथ्य के दो नाम हैं। कुंडलिनी साधना द्वारा भीतर भरे शक्ति-स्त्रोत को उभारा जाता है और निखिल ब्रह्मांड में संव्याप्त अनंत सामर्थ्य को अपने भीतर धारण किया जाता है। यह धारणा ही वह पात्रता है जिसके आधार पर दिव्य शक्तियों का साधक में अवतरण होता है। शारीरिक और मानसिक साधना पद्धति की उपयोगिता भी है और आवश्यकता भी। पर उसकी पूर्णता तभी होती है, जब अपने अणु अस्तित्व को विराट् के विभु में समर्पित कर दिया जाए। यह समर्पण जितना यथार्थ और जितना प्रगाढ़ होता है, उसी अनुपात से सफलता का पथ प्रशस्त होता चला जाता है।

कुंडलिनी शक्ति एक होते हुए भी व्यक्ति तथा संसार के चेतन और जड़ जगत के अनेक प्रयोजन पूरे करती है। बिजलीघर में विनिर्मित होने वाले विद्युत-भंडार का संग्रह एक ही प्रकार का है, पर उसके द्वारा बत्तियाँ, पंखे, हीटर, कूलर, रेडियो आदि के अनेक घरेलू प्रयोजन पूरे होते हैं और अनेक तरह के कल-कारखाने चलते तथा अगणित प्रकार का उत्पादन करते हैं। इन क्रिया-कलापों के नाम-रूप अनेक हैं। उनके बाह्य स्वरूपों की भिन्नता इतने अधिक प्रकार और स्तर की है कि किसी का किसी से कोई सीधा संबंध मालूम नहीं पड़ता। पंखा चलने और रेडियो बजने के बाह्य स्वरूप में भारी अंतर मालूम पड़ता है। एक मशीन से सिंचाई के लिए पानी

निकलता है और दूसरी लोहा गलाने की भट्ठी जलाती है। दोनों में प्रत्यक्षत: कितना भारी अंतर दीखता है, पर बारीकी से देखने पर एक ही विद्युत-भंडार के यह विविधविध क्रिया-कलाप सिद्ध होंगे। ठीक इसी प्रकार कुंडलिनी शक्ति एक विश्वव्यापी जीवन प्राण और समर्थ क्षमता के रूप में एक ही प्रकार की है, पर उसके कार्य जड़-जगत में अलग प्रकार के और चेतन-जगत में अलग प्रकार के दिखाई पड़ते हैं।

चेतन-जगत में इसकी क्रियाशीलता प्राणियों के जन्म, अभिवर्द्धन, वृद्धावस्था, मृत्यु तथा अंग-प्रत्यंग की दृश्य एवं अदृश्य गतिविधियों के रूप में देखी जा सकती है। इच्छा, ज्ञान, क्रिया, स्वभाव, संस्कार आदि के रूप में उसी महाशक्ति का प्रकाश फैला हुआ देखा जा सकता है। पंचतत्त्वों के विभिन्न सम्मिश्रणों, चेतनाओं के अनेक विभाजनों का एकत्रीकरण तथा कर्म संस्कारों के योग से जो अगणित योनियों में जन्म लेने वाले असंख्य आकृति-प्रकृति के जीव उत्पन्न होते हैं, उनमें यह कुंडलिनी शक्ति की चेतन-जगत में चल रही गतिविधियाँ ही कारण हैं। जड़-जगत में पृथ्वी और आकाश में जो विदित और अविदित अनेक हलचलें उत्पन्न होती रहती हैं और परिवर्तनों से भरी चंचलता निरंतर गतिवान रहती है, उसका कारण भी दिव्य सत्ता है। अणु-परमाणुओं की द्रुतगामी हलचलों से लेकर ग्रह-नक्षत्रों का चल बल, समुद्र के ज्वार-भाटे, भूकंप, ऋतु-परिवर्तन, भू-गर्भ के अंतरंग में निरंतर चल रहे हेर-फेर, ईथर-तत्त्व की सक्रियता आदि जड़-जगत में चल रही समस्त उथल-पुथल के पीछे यह कुंडलिनी शक्ति ही काम करती है। उनका क्रिया-कलाप एक क्षण के लिए भी बंद हो जाए, तो महाप्रलय ही सामने होगी। तब यहाँ सब कुछ निर्जीव, नीरस, निष्क्रिय, नितांत नीरव और अंधकार ही यहाँ शेष रह जाएगा। संभवत: तब सारी आकृतियाँ बिगड़कर पुन:

नीहारिकाएँ उत्पन्न करने वाली धूमिलता में ही बिखर जाएँ और देखने अनुभव करने जैसा कुछ शेष ही न रह जाए।

लकड़ी का टुकड़ा यदि अग्नि जैसा तेजस्वी बनना चाहता हो तो उसे अग्नि रूप बनने के लिए वर्तमान अस्तित्व गँवाना ही पड़ेगा। बीज अपना अस्तित्व भी न खोना चाहे और विशाल वृक्ष बनने का लाभ भी लेना चाहे, तो ये दोनों बातें न हो सकेंगी। संकीर्णता और आत्मिक प्रगति का जोड़ा मिल ही नहीं सकता। जो जितना स्वार्थी है, उसे आत्मिक प्रगति के पथ पर चलते हुए उतनी ही कठिनाई अनुभव होगी। आत्मिक सिद्धियाँ हैं तो, पर उनका लाभ कृपणता और स्वार्थपरता के रहते उठाया नहीं जा सकता। जीवन-साधना का तात्पर्य ही अहंता का विसर्जन है। पारमार्थिक दृष्टिकोण अपनाए बिना न जीवन-लक्ष्य पूरा होता है और न कुंडलिनी जागरण जैसी योग-साधनाओं में सफलता मिलती है।

आध्यात्मिक चेतना में वृद्धि करने का मतलब है—व्यष्टि को समष्टि से संबंध बनाते उसे घनिष्ठ करते हुए अंतत: परस्पर दोनों का एक हो जाना। एक का दूसरे में विलीन हो जाना। जीवात्मा वस्तुत: विश्वात्मा-परमात्मा का ही एक अंग है। जो जिसका अंग है वह उसी में लीन होने को व्याकुल रहता है और जब तक वह प्रयोजन पूरा नहीं हो जाता, तब तक बेचैन ही रहता है। जल का भंडार समुद्र है। समुद्र से ही बादल निकलकर सर्वत्र जल बरसाते हैं। यह बरसाया हुआ जल नदी, नाले, झरने, तालाब, पृथ्वी के भीतर की नालियों आदि में होता हुआ यह प्रयत्न करता है कि वह समुद्र में जाकर मिले। जिधर भी पानी को ढलान दीखती है, उधर ही बहने लगता है। इस ढलान और प्रवाह का प्रयोजन उस बिखरे हुए जल अंशों को अपने मूल भंडार समुद्र तक पहुँचा देना ही है। आत्मिक उन्नति का उद्देश्य जीव की इस गति में तीव्रता ला देता

है, जिसके आधार पर वह एक छोटा टुकड़ा न रहकर अपने उद्गम में जा मिले और अपूर्णता खोकर पूर्णता का लक्ष्य प्राप्त कर ले।

लेकिन अधिकांश लोग अधोगामी प्रवृत्ति ही अपनाए रहते हैं। पुराणों में ऐसे व्यक्तियों को पतित कहा गया है। जिसका आशय है कि प्रगति ऊर्ध्वगमन को कहते हैं तथा पतन को अधोगमन कहा जाता है। मूलाधार गत शरीर चेतना साधन शक्ति जब ऊर्ध्वगमन की इच्छा करती है, तो उसे सहस्रार की ओर उठना, चलना पड़ता है। कामबीज का ज्ञानबीज में परिवर्तन, विसर्जन, समर्पण करने की प्रक्रिया ही आत्मिक प्रगति का—लक्ष्यप्राप्ति का एकमात्र मार्ग है।

इस आत्मिक उत्कर्ष के अनेकों मार्ग हो सकते हैं। संकीर्ण स्वार्थपरता के बंधनों को शिथिल रहने और तोड़ने का प्रत्येक प्रयास इसी स्तर का माना जाएगा। जिन विचारों, योजनाओं और गतिविधियों में आदर्शवादी सिद्धांतों को अपनाने की बात बनती हो, उन्हें आत्मोत्कर्ष की साधना का एक स्वरूप माना जा सकता है। कुंडलिनी जागरण इसी प्रकार की वैज्ञानिक परिपाटी के आधार पर परिणाम प्रस्तुत करने वाली साधना है। इसमें शरीर विज्ञान और मनोविज्ञान दोनों के महत्त्वपूर्ण आधार जुड़े हुए हैं। भौतिकी और ब्रह्मविद्या के दोनों तत्त्वों का इसमें समान रूप से समावेश है।

जीवसत्ता सामान्यतः शरीराभ्यास में डूबी रहती है। इसी वस्तुस्थिति का चित्रण कुंडलिनी ज्ञान में इस प्रकार किया गया है कि मूलाधार क्षेत्र में एक महासर्पिणी किसी लिंग प्रतीक से साढ़े तीन लपेटे मारकर सोई हुई है। उसका मुख नीचे की ओर है और उससे विष झरता है। यह लिंग कंद-संसार का आकर्षण है। जीव-सत्ता सर्पिणी है। वह आत्मबोध के संबंध में प्रसुप्त स्थिति में पड़ी है। उसे न अपने स्वरूप का ज्ञान है और न लक्ष्य का मोह। वह मदिरा पीकर अज्ञान की मूर्च्छा से ग्रसित हो रही है। साढ़े तीन फेरों में तीन

तो वासना, तृष्णा और अहंता के पूरे हैं। बीच-बीच में कभी-कभी आत्मकल्याण की बात भी हलके-फुलके ढंग से उभरती है। अंतरात्मा की यह पुकार पूरी तरह कोई भी कुचल नहीं सकता। वह अपनी माँग करती ही रहेगी, भले ही उसे पग-पग पर अनसुनी किया जाता रहे। यही है आधा लपेट जिसे मिलाकर साढ़े तीन फेरे बनते हैं। सुप्त-प्रसुप्त कुंडलिनी का मुख नीचे की ओर अधःपतन की ओर है। हमारी निकृष्ट आकांक्षाएँ और प्रवृत्तियाँ आत्मकल्याण से नीचे ही धकेलने वाली बन गई हैं। शक्तियों का क्षरण-अधोमुखी बना हुआ है। वीर्यपात से लेकर अन्य कार्य भी उठाने वाले नहीं, गिराने वाले ही बने हुए हैं। उनके दुष्परिणाम विषतुल्य होते हैं। जीवसत्ता की दुर्गति का चित्रण प्रसुप्त सर्पिणी के रूप में किया गया है, तो यह उचित ही है। हमारी सत्ता इस विश्व-वसुधा में सर्पिणी के समतुल्य ही हेय बनकर रह रही है। हमारे उत्पादन विषतुल्य ही हैं। विषबीज बोने और विषाक्त प्रदूषण फैलाने वाली ही तो अपनी जीवन-प्रक्रिया बन रही है। मोह-मदिरा पीकर उन्मत्त बने दुर्भाग्यग्रस्त मनुष्यों की तरह ही अपनी स्थिति बनी हुई है।

कुंडलिनी जब जागती है तो प्रसुप्ति छोड़ती है। लपेटे खोल देती है। तनकर खड़ी हो जाती है। मेरुदंड मार्ग से ऊपर की ओर चढ़ना प्रारंभ करती है। उसके मुख से विषाक्त दुर्गंध के स्थान पर अमृतमयी सुगंध के श्वास निकलने लगते हैं। यह दृश्य आत्मोत्थान की ओर उन्मुख होने का है। कुंडलिनी मेरुदंड मार्ग से ऊपर चलती है और सहस्रार अवस्थित महासर्प से जा लिपटती है। इसे शिव-पार्वती विवाह की कथा-गाथा के रूप में समझाने का प्रयत्न किया गया है। सती, शिव से विमुख होकर पिता के घर गई थी और खिन्न होकर अग्निकुंड में जल मरी थीं। यह आत्मा का परमात्मा से विमुख होकर नारकीय यातनाओं के कुंड में जल मरना है। स्थिति

बदलती है। सती नया जन्म पार्वती के रूप में लेती हैं। तप करती हैं और शिव की अर्द्धांगिनी बन जाती हैं। यह जीवसत्ता का योग-तप की साधना अपनाकर अपनी पात्रता को विकसित करना और ऊर्ध्वगामी बनकर परमात्मा में समन्वित हो जाने का विकासक्रम है। कुंडलिनी जागरण साधना का तत्त्वदर्शन इन कथानकों के माध्यम से अधिक अच्छी तरह समझा जा सकता है।

समुद्रमंथन की कथा में भी प्रकारांतर से कुंडलिनी जागरण प्रक्रिया का ही दिग्दर्शन है। समुद्रमंथन की कथा में जीव की वस्तुस्थिति और कुंडलिनी जागरण साधना से उसकी प्रगति-सद्गति का अच्छा-खासा चित्रण है। कूर्म अर्थात भगवान पैर समेटे गई-गुजरी स्थिति में सबसे नीचे। मंथन के लिए लाया गया मदिराचल पर्वत उनकी पीठ पर। मथने के कार्य में प्रयुक्त होने वाली वासुकी सर्प की रज्जु। देवता और असुरों द्वारा उसका मंथन—यही है समुद्र मंथन का दृश्यचित्र। हमारे दैनिक जीवन में ईश्वर का स्थान सबसे नीचे है। वह कुछ करा सकने की स्थिति में नहीं है। कछुए की तरह सिकुड़ा-सिमटा ज्यों-त्यों करके मानवी सत्ता का भार वहन कर रहा है। मदिराचल—वैभव। मदिरा (मादक), अचल (संग्रहीत)। अपना धन-वैभव, उद्धत अहंता की तृप्ति में तथा अचल (संग्रह) करने के लिए प्रयुक्त होता है। वासुकी सर्प—विषधर जीव। साढ़े तीन लपेटों से मदिराचल के साथ लिपटा है और दोनों दिशाओं में देव-दानवों द्वारा घसीटे जाने के कारण दुर्दशाग्रस्त हो रहा है। हड्डी-पसलियों का कचूमर निकला जा रहा है। इस चित्रण में हम अपनी दुर्दशा का चित्र तथा भावी प्रगति का उपाय आभास देखने का दोहरा लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

जीवनक्रम में संव्याप्त जड़ता को—पशु-प्रवृत्तियों के अभ्यस्त प्रवाह को निरस्त किया जाना चाहिए। चिंतन में समुद्रमंथन जैसी

प्रखरता उत्पन्न की जानी चाहिए। प्रसुप्ति को जागृति में—मूर्च्छना को क्रांतिकारी परिवर्तन में परिणत करने की आवश्यकता है। जीवन मंथन कर डाला जाए काया-कल्प के लिए कटिबद्ध हुआ जाए। पशु-प्रवृत्तियों से छुटकारा पाकर देवयान के पथ पर चलने का साहस जुटाया जाए, तो अपने लिए भी समुद्रमंथन से उपलब्ध हुए बहुमूल्य रत्नों की तरह अति महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ करतलगत हो सकती हैं। व्यामोह की, प्रलोभनों की, उन्मादों की सनकें यदि अंतःचेतना पर छाई ही रहीं, अंतर्द्वंद्वों में क्षमता का अपव्यय होता रहा, तो इस जीवन व्यापार में कमाया कुछ न जा सकेगा। जो पूँजी साथ लेकर आए थे, वह भी गँवाकर ऋण-भार लादकर वापस जाना पड़ेगा। इस स्थिति से बचने के लिए जीवनमंथन आवश्यक है। क्रांतिकारी परिवर्तन अभीष्ट है। समुद्रमंथन की कथा की मंथन- प्रक्रिया को कुंडलिनी जागरण पद्धति के साथ सहज भाव से जोड़ा जा सकता है।

कामनाएँ भावनाओं में परिणत होने के लिए संकल्प करती हैं तो उनकी स्थिति गंगा के समुद्र में विलय होने की आतुरता जैसी बन जाती है। हिमालय से निकलकर गंगा आतुरतापूर्वक समुद्र-मिलन के लिए लंबा मार्ग पार करती हुई दौड़ती है। कुंडलिनी को गंगा, मेरुदंड मार्ग को प्रवाह-पथ और सहस्रार को समुद्र कहा जा सकता है। अपने प्रियतम को पाकर गंगा ने अशांति से छुटकारा पाया और महान से मिलकर महान बन गई।

नर को नारायण बनने में तभी सफलता मिलेगी, जब वह अनंत चेतना के दिव्य शक्ति-स्रोत सविता देवता से अपने संबंध जोड़ेगा। सूर्य कितना तेजस्वी है, कितना समर्थ है—यह जानने वाला सूर्यपुत्र बनने के लिए उसकी साधना कुंडलिनीयोग द्वारा करते तो हैं, पर यह भूल जाते हैं कि अपनी सत्ता में दिव्य चेतना भी उसी मार्ग पर चलते हुए प्रखर बनानी होगी, जिस पर चलते हुए एक तुच्छ-सा अग्नि-पिंड सविता के रूप में विकसित हुआ है। □

गायत्री-साधना और कुंडलिनी जागरण

पौराणिक कथा के अनुसार ब्रह्माजी के दो पत्नियाँ थीं। प्रथम गायत्री, दूसरी सावित्री। इसे अलंकारिक प्रतिपादन में ज्ञान-चेतना और पदार्थ-संपदा कहा जा सकता है। इनमें एक परा प्रकृति है, दूसरी अपरा। परा प्रकृति के अंतर्गत मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, चतुष्टय, ऋतंभरा प्रज्ञा आदि का ज्ञानक्षेत्र आता है। दूसरी पत्नी सावित्री। इसे अपरा प्रकृति, पदार्थ चेतना, जड़ प्रकृति कहा जाता है। पदार्थों की समस्त हलचलें, गतिविधियाँ उसी पर निर्भर हैं। परमाणुओं की भ्रमणशीलता, रसायनों की प्रभावशीलता, विद्युत, ताप, प्रकाश, चुंबकत्व, ईथर आदि उसी के भाग हैं। पदार्थ विज्ञान इन्हीं साधनों को काम में लाकर अगणित आविष्कार करने और सुविधा-साधन उत्पन्न करने में लगा हुआ है। इसी अपरा प्रकृति को सावित्री कहते हैं। कुंडलिनी इसी दूसरी शक्ति का नाम है।

दूसरी शक्ति सावित्री—पदार्थ शक्ति, क्रियाशीलता इस अपरा प्रकृति से ही प्राणियों का शरीर-संचालन होता है और संसार का प्रगतिचक्र चलता है। शरीर में श्वास-प्रश्वास, रक्त-संचार, निद्रा-जाग्रति, पाचन-विसर्जन, ऊष्मा-ऊर्जा, विद्युत-प्रवाह अगणित क्रिया-कलाप काया के क्षेत्र में चलते हैं। संसार का हर आदि पदार्थ क्रियाशील है। उत्पादन, अभिवर्द्धन और परिवर्तन का गतिचक्र इस सृष्टि में अनवरत गति से चलता है। प्राणी और पदार्थ सभी अपने-अपने ढंग से प्रगति-पथ पर द्रुतगति से दौड़ रहे हैं। विकास की दिशा में कण-कण को धकेला जा रहा है। निष्क्रियता को सक्रियता के रूप में बदलने का प्रेरणा-केंद्र जिस महातत्त्व में सन्निहित है, उसे अपरा प्रकृति कहते हैं। सत, रज, तम—पंचतत्त्व, तन्मात्राएँ आदि का सूत्र-संचालन यही शक्ति करती है। सिद्धियाँ और वरदान

इसी के अनुग्रह से मिलते हैं। ब्रह्माजी की द्वितीय पत्नी सावित्री इसी को कहते हैं। मनुष्य शरीर में आरोग्य, दीर्घ जीवन, बलिष्ठता, स्फूर्ति, साहसिकता, सौंदर्य आदि अगणित विशेषताएँ इसी पर निर्भर हैं। यों इसका विस्तार तो सर्वत्र है, पर पृथ्वी में ध्रुवकेंद्र में और शरीर के मूलाधारचक्र में इसका विशेष केंद्र है। साधना प्रयोजन में इसी को कुंडलिनी शक्ति कहते हैं।

गायत्री और सावित्री दोनों परस्पर पूरक हैं। इनके मध्य कोई प्रतिद्वंदिता नहीं। गंगा-यमुना की तरह ब्रह्म हिमालय की इन्हें दो निर्झरिणी कह सकते हैं। सच तो यह है कि दोनों अविच्छिन्न रूप से एकदूसरे के साथ गुँथी हुई हैं। इन्हें एक प्राण दो शरीर कहना चाहिए। ब्रह्मज्ञानी को भी रक्त-मांस का शरीर और उसके निर्वाह का साधन चाहिए। पदार्थों का सूत्र-संचालन चेतना के बिना संभव नहीं। इस प्रकार यह सृष्टिक्रम दोनों के संयुक्त प्रयास से चल रहा है। जड़-चेतन का संयोग बिखर जाए, तो फिर दोनों में से एक का भी अस्तित्व शेष न रहेगा। दोनों अपने मूल कारण में विलीन हो जाएँगे। इसे सृष्टि के, प्रगति रथ के, दो पहिये कहना चाहिए। एक के बिना दूसरा निरर्थक है। अपंग तत्त्वज्ञानी और मूढ़मति नर-पशु दोनों ही अधूरे हैं। शरीर में दो भुजाएँ, दो पैर, दो आँखें, दो फेफड़े, दो गुरदे आदि हैं। ब्रह्मशरीर भी अपनी दो शक्तिधाराओं के सहारे यह सृष्टि प्रपंच सँजोए हुए हैं, इन्हें उसकी दो पत्नियाँ, दो धाराएँ आदि किसी भी शब्द-प्रयोग के सहारे ठीक तरह वस्तुस्थिति को समझने का प्रयोजन पूरा किया जा सकता है। पत्नी शब्द अलंकार मात्र है। चेतन सत्ता का कुटुंब-परिवार मनुष्यों जैसा कहाँ है? अग्नितत्त्व की दो विशेषताएँ हैं—गरमी और रोशनी। कोई चाहे तो इन्हें अग्नि की दो पत्नियाँ कह सकते हैं। यह शब्द अरुचिकर लगे तो पुत्रियाँ कह सकते हैं। सरस्वती को कहीं ब्रह्मा की पत्नी, कहीं पुत्री कहा

गया है। इसे स्थूल मनुष्य व्यवहार जैसा नहीं समझना चाहिए। यह अलंकारिक वर्णन मात्र उपमा भर के लिए है। आत्मशक्ति को गायत्री और वस्तुस्थिति को सावित्री कहते हैं। सावित्री-साधना को कुंडलिनी जागरण कहते हैं। उसमें शरीरगत प्राण-ऊर्जा की प्रसुप्ति, विकृति के निवारण का प्रयास होता है। बिजली का ऋण और धन दो धाराएँ होती हैं। गायत्री और सावित्री के समन्वय से साधना की समग्र आवश्यकता पूरी होती है।

नित्यकर्म में संध्यावंदन में की जाने वाली गायत्री-उपासना सामान्य है। कुंडलिनी जागरण के लिए गायत्री की उच्चस्तरीय उपासना का क्रम अपनाना पड़ता है। इसे जड़ और चेतन को परस्पर बाँधे रहने वाली सूत्र-शृंखला कह सकते हैं। प्रकारांतर से यह प्राण-प्रवाह है, जो व्यष्टि और समष्टि की समस्त हलचलों का संचालन करता है। नर और नारी अपनी जगह पर अपनी स्थिति में समर्थ होते हुए भी अपूर्ण हैं। इन दोनों को समीप लाने और घनिष्ठ बनाने में एक अविज्ञात चुंबकीय शक्ति काम करती रहती है। इसी के दबाव से युग्मों का बनना और प्रजनन क्रम चलना संभव होता है। उदाहरण के लिए इन नर और नारी के बीच घनिष्ठता उत्पन्न करने वाले चुंबकीय धारा-प्रवाह को कुंडलिनी की एक चिनगारी कह सकते हैं। प्रकृति और पुरुष को घनिष्ठ बनाकर उनसे सृष्टि-संचार की विभिन्न हलचलों का सरंजाम खड़ा करा लेना इसी ब्रह्मांडव्यापी कुंडलिनी का काम है। व्यक्ति सत्ता में भी काया और चेतना की घनिष्ठता बनाए रहना और शरीर में लिप्सा, मन में ललक और अंतःकरण में निष्ठा उभारना इसी कुंडलिनी महाशक्ति का काम है। जीव की समस्त हलचलें, आकांक्षा, विचारणा और सक्रियता के रूप में सामने आती हैं। इनका सृजन-उत्पादन कुंडलिनी ही करती है। अन्यथा जड़ पंचतत्त्वों में पुलकन कहाँ? निर्लिप्त आत्मा में

उद्विग्न आतुरता कैसी ? दृश्य जगत की समस्त हलचलों के बीच जो बाजीगरी काम कर रही है, उसे अध्यात्म की भाषा में 'माया' कहा गया है। साधना-क्षेत्र में इसी को कुंडलिनी कहते हैं। इसे विश्व हलचलों का, मानवी गतिविधियों का, उद्गम-मर्मस्थल कह सकते हैं। यह प्रमुख कुंजी मास्टर के हाथ आ जाने पर प्रगति का द्वारा बंद किए रहने वाले सभी ताले खुलते चले जाते हैं।

गायत्री की उच्चस्तरीय साधना में ऋतंभरा प्रज्ञा उभारने के लिए, प्रत्यक्ष सत्ता को प्रखर बनाने के लिए कुंडलिनी-साधना की कार्य-पद्धति काम में लाई जाती है। गायत्री-साधना का उद्देश्य मानसिक चेतनाओं का जागरण और कुंडलिनी-साधना का प्रयोजन पदार्थगत सक्रियताओं का अभिवर्द्धन है।

मस्तिष्क मार्ग से प्रकट होने वाली चेतनात्मक शक्तियों की सिद्धियों का वारापार नहीं। योगी, तत्त्वज्ञानी, पारदर्शी, मनीषी, विज्ञानी, कलाकार, आत्मवेत्ता, महामानव इसी शक्ति का उपयोग करके अपने वर्चस्व को प्रखर बनाते हैं। ज्ञानशक्ति के चमत्कारों से कौन अपरिचित है ? मस्तिष्क का महत्त्व किसे मालूम नहीं ? उसके विकास के लिए स्कूली प्रशिक्षण से लेकर स्वाध्याय, सत्संग, चिंतन, मनन और साधना-समाधि तक के अगणित प्रयोग किए जाते रहते हैं। इस व्यावहारिक क्षेत्र को गायत्री उपासना परा प्रकृति की साधना ही कहना चाहिए।

दूसरी क्षमता है—क्रियाशक्ति, अपरा प्रकृति। शरीरगत अवयवों का सारा क्रिया-कलाप इसी से चलता है। श्वास-प्रश्वास, रक्त-संचार, निद्रा, जाग्रति, मलों का विसर्जन, ऊष्मा, ज्ञानतत्त्व, विद्युत-प्रवाह आदि अगणित प्रकार के क्रिया-कलाप शरीर में चलते रहते हैं। उन्हें अपरा प्रकृति का कर्तृत्व कहना चाहिए, इसे जड़ पदार्थों को गतिशील रखने वाली 'क्रियाशक्ति' कहना चाहिए। व्यक्तिगत

जीवन में इसका महत्त्व भी कम नहीं। आरोग्य, दीर्घ जीवन, बलिष्ठता, स्फूर्ति, साहसिकता, सौंदर्य आदि कितनी ही शरीरगत विशेषताएँ इसी पर निर्भर हैं। इसे व्यावहारिक रूप से कुंडलिनी शक्ति कहना चाहिए। आहार, व्यायाम, विश्राम आदि द्वारा साधारणतः इसी शक्ति की साधना, उपासना की जाती है।

यों प्रधान तो मस्तिष्क स्थित दिव्य चेतना ही है। वह बिखर जाए तो तत्काल मृत्यु आ खड़ी होगी। पर उपयोगिता शरीरगत पदार्थ-चेतना की भी कम नहीं है। उसकी कमी होने से मनुष्य दुर्बल, रुग्ण, अकर्मण्य, निस्तेज, कुरूप और कायर बनकर रह जाएगा। निरर्थक, निरुपयोगी, भारभूत जिंदगी की लाश ही ढोता रहेगा।

गायत्री का केंद्र सहस्रार—मस्तिष्क का मस्तिष्क, ब्रह्मरंध्र है। कुंडलिनी का केंद्र कामबीज—मूलाधारचक्र। गायत्री ब्रह्मचेतना की और सावित्री ब्रह्मतेज की प्रतीक है। दोनों में परस्पर सघन एकता और अविच्छिन्न घनिष्ठता है। गायत्री से दिव्य आध्यात्मिक विभूतियाँ उपलब्ध होती हैं और सावित्री से भौतिक ऋद्धि-सिद्धियाँ। गायत्री-उपासना की उच्चस्तरीय साधना पंचकोशों की, पंचयोगों की साधना बन जाती है। सावित्री कुंडलिनी है और उसे पाँच तप-साधनों द्वारा जगाया जाता है। योग और तप के समन्वय से ही संपूर्ण आत्म साधना का स्वरूप बनता और समग्र प्रतिफल मिलता है। इसलिए पंचकोशों की गायत्री और कुंडलिनी जागरण की सावित्री विद्या का समन्वित अवलंबन अपनाना ही हितकर है। बिजली की दो धाराएँ मिलने पर ही शक्ति-प्रवाह में परिणत होती है। आत्मिक प्रगति का रथ भी इन्हीं दो पहियों के सहारे महान लक्ष्य की दिशा में गतिशील होता है।

मोटेतौर पर मनुष्य शरीर पंचतत्त्वों का, सप्त धातुओं का बना परिलक्षित होता है। अन्न, जल पर उसका निर्वाह चलता प्रतीत होता

है, पर यदि तात्त्विक सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए, तो उसमें विश्व-ब्रह्मांड में संव्याप्त समस्त जड़-चेतन शक्तियों के बीज विद्यमान दिखाई देंगे। जो कुछ इस विराट् विश्व में है, उसका छोटा रूप अपने भीतर बहुत ही सुव्यवस्थित रीति से सँजोया हुआ है। यदि उन बीजों का ठीक तरह सिंचन-पोषण किया जा सके, तो उसका विस्तार इतने बड़े विशाल वृक्ष के रूप में हो सकता है कि आश्चर्यचकित रह जाना पड़े।

अपने भीतर सभी देवता, सभी दिव्य लोक, सभी सिद्धपुरुष, सभी ऋषि, सभी तीर्थ, सभी सिद्धियाँ तथा जो कुछ श्रेष्ठ-उत्कृष्ट है उसके अंकुर यथास्थान बोए-उगाए हुए मौजूद हैं। आवश्यकता केवल उनमें खाद-पानी देने की अनुकूलता प्रस्तुत करने की है। देखते-देखते वे विकसित, पल्लवित और फल-फूलों से सुसज्जित हो सकते हैं।

साधना का प्रयोजन अपने भीतर की महानता को विकसित करना ही है। बाहर व्यापक क्षेत्र में भी देव शक्तियाँ विद्यमान हैं, पर उनके लिए समष्टि विश्व की देख-भाल का विस्तृत कार्यक्षेत्र नियत रहता है। व्यक्ति की भूमिका के अनुरूप प्रतिक्रिया उत्पन्न करने— सफलता और वरदान देने का कार्य उनके वे अंश ही पूरा करते हैं जो बीज रूप में हर व्यक्ति के भीतर विद्यमान हैं। सूर्य का अंश आँख में मौजूद है। यदि आँखें सही हों, तो ही विराट् सूर्य के प्रकाश से लाभ उठाया जा सकता है। अपने कान ठीक हों तो ही बाहर के ध्वनि- प्रवाह की कुछ उपयोगिता है। इसी प्रकार अपने भीतर के देवबीज यदि विकसित-परिष्कृत हों तो उनके माध्यम से विश्वव्यापी देवतत्त्वों के साथ संबंध जोड़ना आकर्षित करना और उनका सहयोग- अनुग्रह प्राप्त कर सकना संभव हो सकता है।

कुंडलिनी जागरण की साधना-पद्धति का प्रयोजन अपने भीतर के देव अंशों को विकसित और परिपुष्ट बनाना है। कैलाश पर्वत

पर सर्पों का यज्ञोपवीत धारण करके विराजमान शिव और क्षीरसागर में शेषनाग पर सोए हुए विष्णु का बीजांश हमारे मस्तिष्क मध्यकेंद्र ब्रह्मरंध्र में यथावत विद्यमान है। इस स्थान को 'सहस्रार' कहते हैं। महाकाली—अग्नि जिह्वा चामुंडा का बीजांश जननेंद्रिय गह्वर—'मूलाधार' में विद्यमान है। इन दो शक्तियों के असंबद्ध बने रहने पर केवल उनकी उपस्थिति का आभास मात्र ही होता है, पर जब उन दोनों का संगम-समागम हो जाता है, तो अजस्र शक्ति की एक ऐसी धारा प्रवाहित हो उठती है जिसे अनुपम या अद्‌भुत ही कहा जा सकता है।

जब वर्षा ऋतु आती है तो सूखे बीहड़ भी हरियाली से भर जाते हैं। ग्रीष्म ऋतु में जिनका कोई अस्तित्व दृष्टिगोचर नहीं होता था, ऐसे दबे हुए बीज भी उपज पड़ते हैं और ऐसा लगता है कि मानो किसी चतुर माली ने विभिन्न प्रकार की वनस्पतियाँ, पुष्प गुल्म, लता, वल्लरियाँ विधिवत आरोपित की हैं। कुंडलिनी-साधना की सफलता को पावस का आगमन कह सकते हैं। मनुष्य शरीर एक विशाल उर्वर भूखंड कहा जा सकता है। इसमें एक-से-एक बहुमूल्य बीज दबे पड़े हैं। वर्षा न होने तक उनका अस्तित्व छिपा रहता है, पर जैसे ही पानी बरसा कि वे सभी प्रकट होकर अपनी शोभा-सुषमा दिखाने लगते हैं। साधारणत: जिन विशेषताओं और विभूतियों का किसी को भान भी नहीं होता, वे इस पावस में अनायास ही अंकुरित और पल्लवित होने लगती है।

आत्मवेत्ताओं ने मानव काया को तीन परतों—स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों में एक-से-एक अद्‌भुत देवांश खोजा है। शक्ति-बीजों की प्रचुर मात्रा उन्हें दृष्टिगोचर हुई है। विराट् में सन्निहित सब कुछ उन्होंने इसी छोटे-से कलेवर में सारभूत विद्यमान पाया है। इसलिए उन्होंने अपने अंतरंग में ही देव-साधना का विधान

अधिक महत्त्वपूर्ण माना है। यों देव मंदिरों में तथा लोक-लोकांतरों में भी देवशक्तियाँ संव्याप्त हैं, पर जितनी समीप और जितनी सजीव अपने अंतरंग में है उतनी अन्यत्र नहीं। जितनी सुविधापूर्वक उन्हें अपने भीतर पाया जा सकता है, उतनी सरलता और सफलता अन्यत्र नहीं मिल सकती। कुंडलिनी विद्या की साधना अंतरंग-क्षेत्र में ही करनी पड़ती है और उसकी सफलता जब मेघ मालाओं की तरह बरसती है, तो अगणित दिव्य विभूतियाँ स्वयमेव प्रस्फुटित और पल्लवित होती हैं। अंतरंग में कहा गया है—इसका वर्णन देखिए—

देहेऽस्मिन् वर्तते मेरुः सप्तद्वीपसमन्वितः।
सरितः सागराः शैलाः क्षेत्राणि क्षेत्रपालकाः॥
ऋषयो मुनयः सर्वे नक्षत्राणि ग्रहास्तथा।
पुण्यतीर्थानि पीठानि वर्तन्ते पीठदेवताः॥

—शिव संहिता २।१-२

इसी शरीर में सुमेरु, सप्तद्वीप तथा समस्त सरिताएँ, सागर, पर्वत, क्षेत्र, क्षेत्रपाल, ऋषि, मुनि, नक्षत्र, ग्रह, तीर्थ, पीठ, देवता निवास करते हैं।

अस्थिस्थाने महेशानि जम्बुद्वीपो व्यवस्थितः।
मांसेषु च कुशद्वीपः क्रौंचद्वीपः शिरासु च॥
शाकद्वीपः स्मृतो रक्ते प्राणिनां सर्वसन्धिषु।
तदूर्ध्वं शाल्मलीद्वीपः प्लक्षश्च लोमसंचये॥
नाभौ च पुष्करद्वीपः सागरस्तदनन्तरम्।
लवणोदस्तथा मूत्रे शुक्रे क्षीरोदसागरः॥
मज्जा दधिसमुद्रश्च तदूर्ध्वं घृतसागरः।
वसापः सागरः प्रोक्त इक्षु स्यात्कटिशोणितम्॥
शोणिते च सुरासिंधुः कथिताः सप्तसागराः।

—महायोग विज्ञान

अस्थि-स्थान में जंबूद्वीप, मांस में केश, द्वीप, शिराओं में क्रोंच द्वीप, रक्त में शाक द्वीप, त्वचा में शाल्मली द्वीप, लोम समूह में प्लक्ष द्वीप, नाभि में पुष्कर। ये सातों द्वीप इस शरीर में ही विद्यमान हैं।

इसी प्रकार इस काया में सात समुद्र भी हैं। मूत्र में लवण सागर, शुक्र में क्षीरसागर, मज्जा में दधिसागर, मेद में घृतसागर, नाभि में इक्षुसागर, रक्त में सुरासागर अवस्थित हैं।

श्रीपर्वतं शिरःस्थाने केदारं तु ललाटके।
वाराणसीं महाप्राज्ञ भ्रुवोर्घ्राणस्य मध्यमे ॥
कुरुक्षेत्रं कुचस्थाने प्रयागं हृत्सरोरुहे ।
चिदम्बरं तु हृन्मध्ये आधारे कमलालयम् ॥
आत्मतीर्थं समुत्सृज्य बहिस्तीर्थानि यो व्रजेत्।
करस्थं स महारत्नं त्यक्त्वा काचं विमार्गते ॥
भावतीर्थं परं तीर्थं प्रमाणं सर्वकर्मसु ।

—जाबाल दर्शनोपनिषद् ४। ४८-५१

इसी मनुष्य देह में सात तीर्थ हैं। मस्तक में श्री शैल, ललाट में केदार, नासिका और भौहों के बीच काशी, स्तनों में कुरुक्षेत्र, हृदय में प्रयाग, मूलाधार में कमलालय तीर्थ विद्यमान हैं। जो इन आत्मतीर्थों को छोड़कर बाह्य तीर्थों में भटकता है, वह रत्न छोड़कर काँच ढूँढ़ते फिरने वालों की तरह है।

गंगा सरस्वती गोदा सर्वदा यमुना तथा।
कावेरी चंद्रभागा च वितस्ता च इरावती॥
द्विसप्ततिसहस्त्रेषु नदीनद परिस्त्रवाः।
इतस्ततो देह मध्ये ऋक्षाश्च पंच विंशतिः॥
योगाश्च राशयश्चैव ग्रहाश्च तिथयस्तथा।
करणानि च वाराश्च सर्वेषां स्थापनं तथा॥

सर्वाङ्गेषु च देवेशि समग्रवृक्षमंडलम्।
त्रयस्त्रिंशत्कोट्यस्तु निवसन्ति च देवताः॥

—महायोग विज्ञान

इसी शरीर में समस्त तीर्थ और देवताओं का निवास है। गंगा, यमुना, सरस्वती, गोदावरी, नर्मदा, सिंधु, कावेरी, चंद्रभागा, वितस्ता, इरावती—ये प्रमुख नदियाँ तथा बहत्तर हजार छोटी नदियाँ, ये बड़ी और छोटी नदियों के रूप में प्रवाहित हो रही हैं।

ऐसे ही इस शरीर में पंद्रह तिथियाँ, सात वार, सत्ताइस नक्षत्र, बारह राशि, अट्ठाईस योग, सात करण, नवग्रह उनके उपग्रह, नक्षत्र मंडल तथा तैंतीस कोटि देवता इसी शरीर में विराजमान हैं।

चक्रमध्ये स्थिता देवाः कम्पन्ति वायुताडनात्।
कुण्डल्यपि महामाया कैलासे सा विलीयते॥

—शिव संहिता ४।४६

प्राणवायु की ताड़ना से चक्रों के मध्य में अवस्थित देवता जाग्रत होते हैं और माया कुंडलिनी कैलाश मस्तक में जा पहुँचती है।

ब्रह्मणो हृदयस्थानं कण्ठे विष्णुः समाश्रितः।
तालुमध्ये स्थितो रुद्रो ललाटस्थो महेश्वरः॥

—ब्रह्मविद्योपनिषद्-४१

ब्रह्मा का स्थान हृदय, विष्णु का कंठ में, रुद्र का तालू में और ललाट में सर्वेश्वर का स्थान है।

मनुष्य के भीतर ही समस्त तीर्थ विद्यमान हैं। यदि कुंडलिनी विद्या द्वारा आत्मसाधना कर ली जाए, तो यह काया ही समस्त तीर्थों का संगम बन सकती है और तीर्थयात्रा का जो माहात्म्य बताया है, वह अनायास ही मिल सकता है। इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना को तीर्थराज प्रयाग में गंगा, यमुना, सरस्वती के संगम की उपमा दी है और पुण्य-फल अनंत बताया है।

इडायां यमुना देवी पिंगलायां सरस्वती।
सुषुम्णायां वसेद् गंगा तासां योगस्त्रिधा भवेत्॥
संगता ध्वजमूले च विमुक्ता भ्रूवियोगतः।
त्रिवेणी योगः सा प्रोक्तस्तत्र स्नानं महाफलम्॥

—षट्चक्र निरूपणम्, (पृ०-५)

इड़ा नाड़ी यमुना, पिंगला सरस्वती और सुषुम्ना गंगा है। यही योग त्रिवेणी है। उनका मूलाधार से और वियोजन मध्य में होता है। इस योग त्रिवेणी के संगम का महाफल है।

इडा भागीरथी गंगा पिंगला यमुना नदी।
इडापिंगलयोर्मध्ये सुषुम्ना च सरस्वती॥
त्रिवेणी संगमो यत्र तीर्थराजः स उच्यते।
तासां तु संगमे स्नात्वा धन्यो याति परां गतिम्॥
इडासुषुम्णे शुभतीर्थकेऽस्मिन् ज्ञानाम्बुपूर्णा बहतः शरीरे।
ब्रह्माम्बुभिः स्नातितयोः सदा यः किन्तस्य गाङ्गैरपि पुष्कलैर्वा॥

—महायोग विज्ञान

इड़ा गंगा और पिंगला यमुना के बीच सरस्वती रूपी जो सुषुम्ना बहती है, उनके संगम में स्नान करने वाला धन्य हो जाता है और परमगति पाता है।

इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना इनका संगम शिव तीर्थ है। इनके ज्ञान रूपी ब्रह्म जल में जो स्नान करते हैं, उनके लिए बाह्य नदी सरोवरों तथा तीर्थों का क्या प्रयोजन?

इडा हि पिंगला ख्याता वरणासीति होच्यते।
वाराणसी तयोर्मध्ये विश्वनाथोऽत्र भाषितः॥
एतत् क्षेत्रस्य माहात्म्यमृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः।
शास्त्रेषु बहुधा प्रोक्तं परं तत्त्वं सुभाषितम्॥

—शिव संहिता ५ / १२६-१२७

इड़ा नाड़ी को वरणा और पिंगला को असी कहते हैं। इन दोनों के बीच स्वयं विश्वनाथ विराजमान हैं। यही वाराणसी है।

इसी वाराणसी का माहात्म्य तत्त्वदर्शी ऋषियों तथा शास्त्रों ने गाया है और उसे ही परमतत्त्व कहा है।

आज्ञापङ्कजदक्षांसाद्वामनासापुटं गता।
उदग्वहेति तत्रेडा गङ्गेति समुदाहृता॥

—शिव संहिता ५।१३२

आज्ञाचक्र के दाहिने भाग में बाँई ओर को जाने वाली इड़ा नाड़ी को ही गंगा कहते हैं।

'कारणशरीर' का देवता ब्रह्मा—'सूक्ष्मशरीर' का अधिपति विष्णु और 'स्थूलशरीर' का अधिष्ठाता शिव है। यह अधिष्ठाता देव सामान्य व्यक्तियों के जीवन में गाँठ की तरह बँधे हुए एक कोने में पड़े रहते हैं। पर जब कुंडलिनी जागरण की तीन अग्नियाँ प्रज्वलित होती हैं, तो उनका प्रभाव तीनों शरीरों पर पहुँचता है और उनके प्रसुप्त तीनों देवता सजग-सक्षम-सक्रिय होकर अपना प्रकाश एवं प्रभाव प्रदर्शित करने लगते हैं। जिन तीन शरीरों का साधारणतः आभास-अनुभव नहीं होता, वे अपने अधिष्ठाता देवताओं के जाग्रत होने पर स्थूलशरीर से भी अधिक प्रत्यक्ष एवं समर्थ दिखाई देने लगते हैं। ब्रह्मग्रंथि, विष्णुग्रंथि और रुद्रग्रंथि के खुल जाने से समस्त अभावों और शोक-संतापों के भव-बंधनों से भी छुटकारा मिल जाता है और साधक की प्रतिभा में देवत्व का प्रकाश स्पष्ट परिलक्षित होता है।

गायत्री के तीन चरण इन तीन ग्रंथियों, तीन शरीरों की ओर इंगित करते हैं। गायत्री और सावित्री की समन्वित साधना चेतना पर चढ़े कषाय-कल्मषों का निवारण करती है । परिणामस्वरूप उससे आत्मसत्ता के दिव्य स्वरूप में और निखार आता है। भौतिक क्षेत्र में

आत्मचेतना का प्रभाव उत्पन्न करने के लिए सावित्री-साधना का उपयोग करना पड़ता है। आत्मा को संसारी वर्चस्व बनाने के लिए शरीर धारण करना पड़ता है। गायत्रीरूपी आत्मा को संसारी कर्त्तव्यों की पूर्ति के लिए जिस सामर्थ्य की आवश्यकता पड़ती है, उसे सावित्री-साधना से उत्पन्न किया जाता है।

गायत्री-साधना द्वारा कुंडलिनी शक्ति के जागरण की महिमा पर प्रकाश डालने वाले अनेकों शास्त्र वचन मिलते हैं। यथा—

या देवता भोगकरी सा मोक्षाय न कल्पते।
मोक्षदा नहि भोगाय त्रिपुरा तु द्वयप्रदा॥

—त्रिपुरा तंत्र

जो देवता भोग देते हैं, वे मोक्ष नहीं देते। जो मोक्ष देते हैं, वे भोग नहीं देते, पर कुंडलिनी दोनों प्रदान करती है।

उद्घाट्येत्कपाटं तु यथा कुंचिकया हठात्।
कुंडलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत्॥

—शांभवी तंत्र

जिस प्रकार कोई मनुष्य अपने बल से द्वार पर लगी हुई अर्गला आदि को ताली से खोलता है, उसी प्रकार योगी कुंडलिनी के अभ्यास द्वारा सुषुम्ना के मार्ग का भेदन करता है और ब्रह्मलोक में पहुँचकर मोक्ष को प्राप्त होता है।

मूलाधारे आत्मशक्तिः कुंडलिनी परदेवता।
शायिता भुजगाकारा सार्द्धत्रय बलयान्विता॥
यावत्सा निद्रिता देहे तावज्जीवः पशुर्यथा।
ज्ञानं न जायते तावत् कोटियोग विधेरपि॥
आधार शक्ति निद्रायां विश्वं भवति निद्रया।
तस्यां शक्तिप्रबोधेन त्रैलोक्यं प्रति बुध्यते॥

—महायोग विज्ञान

आत्मशक्ति कुंडलिनी मूलाधारचक्र में साढ़े तीन कुंडली लगाए हुए सर्पिणी की तरह शयन करती है। जब तक वह सोती रहती है, तब तक जीव पशुवत् बना रहता है। बहुत प्रयत्न करने पर भी तब तक उसे ज्ञान नहीं हो पाता। जिसकी आधार शक्ति सो रही है, उसका सारा संसार ही सो रहा है। पर जब वह जागती है तो उसका भाग्य और संसार ही जाग पड़ता है।

यदा भवति सा संविद्विगुणीकृतविग्रहा।
सा प्रसूते कुंडलिनी शब्दब्रह्ममयी विभुः॥
शक्ति ततो ध्वनितस्मान्नादस्तस्मान्निबोधिका।
ततोऽर्धेन्दुस्ततो बिन्दुमतस्माद सीत्परा ततः॥
पश्यन्ती मध्यमा वाणी वैखरी सर्ग जन्मभूः।
इच्छा ज्ञान-क्रियात्मासौ तेजोरूपा गुणात्मिका॥
क्रमेणानेन सृजति कुंडली वर्णमालिकाम्॥

—महामंत्र

जाग्रत हुई कुंडलिनी असीम शक्ति का प्रसव करती है। उससे नाद जाग्रत होता है फिर बिंदु। परा, पश्यंती, मध्यमा और वैखरी ये चारों वाणियाँ प्रखर होती हैं। इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रिया-शक्ति में उभार आता है तथा वर्णमालिका की शृंखला से संबद्ध अनेक शारीरिक-मानसिक शक्तियों का विकास होता है।

शक्तिः कुंडलिनीति विश्वजननव्यापारगद्धोद्यमा।
ज्ञात्वेत्थं तुनर्विशन्ति जननागर्भेऽर्भकत्वनराः॥

—शक्तितंत्र

कुंडलिनी महाशक्ति के प्रयत्न से ही संसार का सारा व्यापार चल रहा है, जो इस तथ्य को जान लेता है, वह शोक-संताप भरे बंधनों में नहीं बँधा रहता।

कूजन्ती कुलकुंडली च मधुरं मत्तालिमालास्फुटं,
वाचः कोमलकाव्यवन्धरचनाभेदातिभेदक्रमैः ।
श्वासोच्छ्वासविभञ्जनेन जगतां जीवो यया धार्यते॥
सा मूलाम्बुजगह्वरे विलसति प्रोद्दामदीतावलिः॥

—*षटचक्र निरूपणम्, (पृ०-२३)*

कुंडलिनी शक्ति के जाग्रत् होने पर वाणी में मधुरता आ जाती है। काव्य कला और साहित्य में प्रगति होती है। यह मूलाधारचक्र में दीप शिखा जैसी, चंद्र ज्योति जैसी प्रकाशित है, प्राणवायु द्वारा यह धारणा की जाती है।

कुंडलिनी जागरण से इस प्रकार की अनेक शक्तियों, सिद्धियों और क्षमताओं का जागरण होता है, यह सच है, क्योंकि इस साधना द्वारा साधक की अंतर्निहित बीजरूप शक्ति जाग्रत होकर ऊर्ध्वगामी बनती है। ये साधनाएँ आत्मसत्ता को परमात्मसत्ता से जोड़ने, उस स्तर पर पहुँचाने में समर्थ हैं। इनके लिए सामान्य साधनाक्रम से ऊपर उठकर कुछ विशिष्ट साधना प्रक्रियाएँ अपनानी पड़ती हैं। प्रत्येक व्यक्ति की स्थिति के अनुरूप उनका अलग-अलग विधान है, इसलिए उनका सार्वजनिक प्रकाशन करना न आवश्यक है और न उचित।

□

मुद्रक—युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा